जीवराज जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थ १८

ग्रन्थमाला संपादक
प्रो. आ. ने. उपाध्ये व प्रो. हीरालाल जैन

श्री–भावसेन–त्रैविद्य–विरचित

प्रमाप्रमेय

(सिद्धान्तसार मोक्षशास्त्र का प्रथम परिच्छेद)

प्रस्तावना, हिन्दी अनुवाद, तुलनात्मक टिप्पणी इत्यादि
सहित प्रथमवार संपादित

संपादक
प्रा. डॉ. विद्याधर जोहरापूरकर एम्.ए., पीएच्. डी.
संस्कृतविभाग, शासकीय महाविद्यालय, मण्डला (म. प्र.)

प्रकाशक
गुलाबचन्द हिराचन्द दोशी
जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापूर.

वीर नि. सं. २४९२] सन १९६६ [विक्रम सं. २०२२

मूल्य रुपये ५ मात्र

JĪVARĀJA JAINA GRANTHAMĀLĀ No. 18
GENERAL EDITORS :
Dr. A. N. UPADHYE

PRAMĀPRAMEYA

(A treatise on Logical Topics)
Edited Authentically for the First Time with
Hindi Translation, Notes etc.

By

Dr. V. P. JOHRAPURKAR, M. A., Ph. D.
Asst. Professor of Sanskrit, Govt. Degree College,
Mandla (M. P.)

Published by
GULABCHAND HIRACHAND DOSHI
Jaina Saṃskṛti Saṃrakṣaka Saṃgha.
Sholapur
1966

Price Rs. Five Only

First Edition : 750 Copies

Copies of this book can be had direct from Jaina Samskrti Samrakshaka Sangha, Santosha Bhavana, Phaltan Galli, Sholapur (India)

Price Rs. 5/- Per copy, exclusive of Postage.

जीवराज जैन ग्रंथमालाका परिचय

सोलापूर निवासी ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचंदजी दोशी कई वर्षोंसे संसारसे उदासीन होकर धर्मकार्यमें अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन १९४० में उनकी यह प्रबल इच्छा हो उठी कि अपनी न्यायोपार्जित संपत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म और समाजकी उन्नतिके कार्यमें करें। तदनुसार उन्होंने समस्त देशका परिभ्रमण कर जैन विद्वानोंसे साक्षात् और लिखित सम्मतियां इस बातकी संग्रह कीं कि कौनसे कार्यमें संपत्तिका उपयोग किया जाय। स्फुट मतसंचय कर लेनेके पश्चात् सन् १९४१ के ग्रीष्म कालमें ब्रह्मचारीजीने तीर्थक्षेत्र गजपंथा (नासिक) के शीतल वातावरणमें विद्वानोंकी समाज एकत्र की और ऊहापोहपूर्वक निर्णयके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया। विद्वत्सम्मेलनके फलस्वरूप ब्रह्मचारीजीने जैन संस्कृति तथा साहित्यके समस्त अंगोंके संरक्षण, उद्धार और प्रचारके हेतुसे 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ' की स्थापना की और उसके लिए ३००००, तीस हजारके दानकी घोषणा कर दी। उनकी परिग्रहनिवृत्ति बढ़ती गई, और सन् १९४४ में उन्होंने लगभग २,००,०००, दो लाखकी अपनी संपूर्ण संपत्ति संघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण कर दी। इस तरह आपने अपने सर्वस्व का त्याग कर दि. १६-१-५७ को अत्यन्त सावधानी और समाधानसे समाधिमरण की आराधना की। इसी संघके अंतर्गत 'जीवराज जैन ग्रंथमाला' का संचालन हो रहा है। प्रस्तुत ग्रंथ इसी ग्रंथमालाका अठारहवाँ पुष्प है।

स्व. ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचन्दजी दोशी

संस्थापक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापूर.

विषयसूची

GENERAL EDITORIAL

Bhāvasena-Traividya belongs to Mūlasaṃgha and Senagaṇa. He is well-known as a successful disputant. He bears the title Traividya which indicates his proficiency in Vyākaraṇa, Nyāya and Siddhānta. He is to be assigned to the latter half of the thirteenth century A. D. Additional details about him and his works are already given in the Introduction to the *Viśvatattva-Prakāśa*, published, in this Series, as No. 16.

One more work, the *Pramāprameya*, of Bhāvasena is being presented in this volume along with Hindi translation etc. The title of the text is differently mentioned by the author himself. It is called *Pramāprameya* in the opening verse, but at the end of the work it is described to be the first Pariccheda, Pramāṇa-nirūpaṇa by name, of the *Siddhāntasāra-Mokṣaśāstra*. Obviously then it is a part of a bigger work which has not come to light so far. Its contents, however, make it a self-sufficient unit. In a way the topics dealt with here are complimentary to those in the *Viśvatattva-Prakāśa* which too, like this work, is an opening portion of a bigger treatise.

The *Pramāprameya* is a manual and presents in a simple style the details about Pramāṇa as understood in Jaina metaphysics and logic. The treatment is more of the Nyāya pattern and very well suited to introduce the students into the preliminaries of Jaina Nyāya. The author's discussion about *anumāna, ābhāsa, vāda* etc. is exhaustive. Bhāvasena has presented a useful manual the duscussion in which is founded on the fundamentals of Jainism but absorbs a good deal of the Nyāya school.

Our sincere thanks are due to Dr. V. P. JOHRAPURKAR who placed this valuable edition of the *Pramāprameya* at our disposal for publication. Besides the Hindi translation of the text, he has added valuable Notes at the end which will help the reader to grasp allied material from other works. It is hoped that he would bring to light other unpublished works of Bhāvasena, of the Mss. (now in Germany) of which we have been able to secure the microfilm copies.

It gives us pleasure to record our sincere gratitude to the members of the Trust Committee and Prabandhasamiti of the Sangha for their keen interest in the progress of the Jīvarāja Jaina Granthamālā. It is a pleasure to be guided by the President of the Trust Committee, Shriman GULABCHAND HIRACHANDAJI who shows enlightened liberalism in shaping the policy of the Granthamālā. Further, we offer our sincere thanks to Shriman WALCHAND DEVACHANDAJI and to Shriman MANIKCHANDA VIRACHANDAJI who are taking active interest in these publications. But for their co-operation and help it would have been difficult for the General Editors to pilot the various publications from a distance.

Kolhapur
Jabalpur
7-1-1966

A. N. UPADHYE
H. L. JAIN
General Editors.

INTRODUCTION

(Summary of Hindi Prastāvanā)

The *Pramāprameya* is the second philosophical treatise of Bhāvasena coming to light. We have given detailed information about the author in our introduction to his *Viśvatattvaprakāśa*. He was a prominent teacher of the Sena-gaṇa and flourished in the latter half of the 13th century. He wrote two books on grammar and eight on logic and metaphysics.

This book is styled as the first chapter of *Siddhāntasāra-Mokṣaśāstra*, containing discussion about Jaina theories of valid knowledge (*pramāṇa*). Probably the latter part of the book was devoted to the subjects of valid knowledge (*prameya*) but its existence is not known. We may note here that *Viśvatattvaprakāśa* is also styled by the author as the first chapter of a Mokṣaśāstra. In a way, these two books are complimentary to each other.

We have prepared this edition from the Nāgarī transscript of a palm-leaf manuscript in Kannada characters obtained from the Jaina Matha of Humcha through the kind co-operation of Swami DEVENDRAKIRTIJI. The transcript was prepared by Mr. PADMANABHA SHARMA of Mysore. The MS is in a fairly good condition. The text is obscure in only one or two places.

As noted above, the book contains a discussion of the Jaina theories of valid knowledge. The author has tried to synthesise the traditional Jaina theories with the then-available Buddhist and Nyāya doctrines. He divides direct knowledge (*pratyakṣa*) in four categories: sensation, mental

consciousness, self-consciousness and the knowledge of the Yogins. His description of the nature of reason (*hetu*) mainly follows the Nyāya views. Various faults in a debate (*jāti* and *nigrahasthāna*) are also described according to the Nyāya tradition. The author criticises the three or four types of debate (*vāda, jalpa* and *vitaṇḍā*) described in the Nyāya Sūtra. He classifies the debate in three (*vyākhyā, goṣṭhī* and *vivāda*) or four (*tāttvika, prātibha, niyatārtha* and *parārthana*) types. He devotes the concluding paragraphs to various methods of counting and measurements, and includes them in Karaṇa-Pramāṇa.

Though smaller in size than the *Viśvakattvaprakāśa*, this book is more important, as it brings to light a new approach to the problems of Jaina epistemology. We hope that other works of Bhāvasena will also be published in near future

प्रस्तावना

१. प्रारम्भिक—आचार्य भावसेन त्रैविद्यदेव का विश्वतत्त्वप्रकाश नामक ग्रन्थ कुछ ही समय पहले इसी ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है। उन का न्यायविषयक दूसरा ग्रन्थ ' प्रमाप्रमेय ' अब हम प्रस्तुत कर रहे हैं।

२. ग्रन्थकार—इस ग्रन्थ के कर्ता आचार्य भावसेन का विस्तृत परिचय हमने विश्वतत्त्वप्रकाश की प्रस्तावना में दिया है। अतः यहां उस का सारांश ही देना काफी होगा। ग्रन्थकार मूलसंघ, सेनगण के आचार्य थे। त्रैविद्य यह उन की उपाधि थी। अर्थात वे व्याकरण, तर्क और आगम इन तीन विद्याओं में पारंगत थे। उन के समाधिमरण का स्मारक आन्ध्र प्रदेश के अनन्तपुर जिले में अमरापुरम् ग्राम के समीप है। इस स्मारक का शिलालेख कन्नड भाषा में है तथा विश्वतत्त्वप्रकाश की प्रशस्ति के कुछ पद्य भी कन्नड में हैं। अतः ग्रन्थकार भी कन्नडभाषी रहे होंगे ऐसा प्रतीत होता है। उन के नाम से ग्रन्थसूचियों में निम्नलिखित ग्रन्थों का पता चलता है— १. विश्वतत्त्वप्रकाश, २. कातन्त्ररूपमाला, ३. प्रमाप्रमेय, ४. सिद्धान्तसार, ५. न्यायसूर्यावली, ६. भुक्तिमुक्तिविचार, ७. सप्तपदार्थीटीका, ८. शाकटायनव्याकरण टीका, ९. न्यायदीपिका तथा १०. कथाविचार। इन में से पहले दो प्रकाशित हो चुके हैं। तीसरा इस पुस्तक में प्रकाशित हो रहा है। चौथे, पांचवें तथा छठवें ग्रन्थ के सूक्ष्मचित्र जर्मनी से प्राप्त हुए हैं किन्तु उन के अध्ययन का प्रबन्ध अभी नहीं हो सका है। शेष ग्रन्थों के बारे में अधिक विवरण नहीं मिल सका है। ग्रन्थकार का समय तेरहवीं सदी के उत्तरार्ध में अनुमानित है। उन्हों ने बारहवीं सदी तक के ग्रन्थों का उपयोग किया है तथा तुरुष्कशास्त्र का उल्लेख किया है, अतः सन १२५० यह उन के समय की पूर्वमर्यादा है। उन की कातन्त्ररूपमाला की एक प्रति सन १३६७ की लिखी है, यही उन के समय की उत्तरमर्यादा है।

३. प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम—ग्रन्थकर्ता ने इस ग्रन्थ के नाम का दो प्रकार से उल्लेख किया है—प्रथम श्लोक में प्रमाप्रमेय यह नाम

दिया है तथा अन्तिम पुष्पिका में इसे सिद्धान्तसार मोक्षशास्त्र का प्रमाण-निरूपण नामक पहला परिच्छेद बतलाया है। इन में से हम ने पहला नाम ही शीर्षक के लिए उपयुक्त समझा है क्यों कि एक तो, उस का उल्लेख पहले हुआ है, दूसरे, वह ग्रन्थ के विषय के अनुरूप है तथा ग्रन्थसूचियों में भी वही उल्लिखित है। ग्रन्थकर्ता द्वारा उल्लिखित दूसरे नाम के सिद्धान्तसार तथा मोक्षशास्त्र ये दोनों अंश दूसरे ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त होते आये हैं – जिनचन्द्रकृत सिद्धान्तसार माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुका है तथा नरेन्द्रसेनकृत सिद्धान्तसारसंग्रह इसी जीवराज ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है – अतः इस नाम को हम ने गौण स्थान दिया है। उस नाम से ग्रन्थ के विषय का बोध भी नही होता।

४. विश्वतत्त्वप्रकाश तथा प्रमाप्रमेय—यहां एक बात ध्यान देने योग्य है कि प्रमाप्रमेय को ग्रन्थकार ने सिद्धान्तसार-मोक्षशास्त्र का प्रमाण-निरूपण नामक पहला परिच्छेद बताया है, इस से अनुमान होता है कि इस ग्रन्थ का अगला परिच्छेद प्रमेयों के बारे में होगा। इसी प्रकार विश्व-तत्त्वप्रकाश-मोक्षशास्त्र के पहले परिच्छेद के अन्त में आचार्य ने उसे अशेष-परमतविचार यह नाम दिया है, इस से अनुमान होता है कि उस के दूसरे परिच्छेद में स्वमत का समर्थन होगा। दुर्भाग्य से इन दोनों ग्रन्थों के ये उत्तरार्ध प्राप्त नही हैं। एकतरह से ये दोनों पूर्वार्ध एक-दूसरे के पूरक हैं क्यों कि इस प्रमाप्रमेय में प्रमाणों का विचार है तथा विश्वतत्त्वप्रकाश में प्रमेयों का विचार है।

५. प्रमाप्रमेय तथा कथाविचार—ग्रन्थकर्ता ने विश्वतत्त्वप्रकाश में तीन स्थानों पर कथाविचार नाम का उल्लेख करते हुए सूचित किया है कि उस में अनुमानसंबंधी विविध विषयोंकी चर्चा है। वे प्रायः सब विषय इस प्रमाप्रमेय में वर्णित हैं। तथा इस के परिच्छेद १०३ से १२२ तक विशेष रूप से कथा (वाद के प्रकारों) का ही विचार किया गया है। अतः सन्देह होता है कि आचार्य ने इसी अंश का विश्वतत्त्वप्रकाश में उल्लेख किया होगा। किन्तु यह भी संभव है कि इस विषय पर उन्हों ने

कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ भी विस्तार से लिखा हो क्यों कि शब्द के अनित्यत्व के विषय में प्राभाकर मीमांसकों के मत का खंडन इस प्रमाप्रमेय में नही पाया जाता जिसका उल्लेख विश्वतत्त्वप्रकाश पृ. ९१ पर है।

६. **सम्पादनसामग्री**--इस ग्रन्थ की एकमात्र ताडपत्रीय प्रति के दर्शन हमने हुम्मच के श्रीदेवेन्द्रकीर्ति स्वामीजी के मठ में किये थे। यह प्रति कन्नड लिपि में है। मैसूर के श्री पद्मनाभ शर्मा के सहयोग से इस का देवनागरी रूपान्तर हमें प्राप्त हुआ। मठ से प्रति प्राप्त करने में श्रीमान पंडित भुजबलि शास्त्रीजी का सहयोग भी उल्लेखनीय रहा। इसी प्रति से यह संस्करण तैयार किया गया है। प्रति बहुत शुद्ध है। केवल एक स्थान पर (परिच्छेद २९ में) हम अर्थनिर्णय करने में असफल रहे हैं। जैसा कि ऊपर कहा है - यह ग्रन्थ एक बडे ग्रन्थ का पहला परिच्छेद है। अतः इस में किसी उप-विभाग या प्रकरण आदि का विभाजन नहीं है। अध्ययन तथा अनुवाद की सुविधा के लिए हमने इसे १२० परिच्छेदों में विभक्त किया है तथा विषयानुसारी शीर्षक दिये हैं। अनुवाद प्रायः शब्दशः किया है तथा स्पष्टी-करण का भाग ब्रैकेटों में रखा है।

७. **प्रमुख विषय**--इस ग्रन्थ में आचार्य ने प्रमाण अर्थात यथार्थ ज्ञान के स्वरूप से संबंधित सभी विषयों का वर्णन किया है। प्रथम परिच्छेद में मंगलाचरण तथा विषयनिर्देश करने के बाद दूसरे परिच्छेद में प्रमाण का लक्षण सम्यक् ज्ञान अथवा पदार्थयाथात्म्यनिश्चय यह बतलाया है। परि० ३ से १० तक प्रत्यक्ष प्रमाण तथा उस के चार भेदों का - इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष एवं स्वसंवेदनप्रत्यक्ष का वर्णन है। परि. ११ से १५ तक परोक्ष प्रमाण तथा उसके प्रकारों का - स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क व ऊहापोह का वर्णन है। परोक्ष प्रमाण का सब से महत्त्वपूर्ण प्रकार अनुमान है, उस के छह अवयवों का - पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, तथा निगमन का वर्णन परि. १६ से २१ तक है। इन अवयवों में से हेतु के लक्षण की विशेष चर्चा परि. २२ से २५ तक है। परि. २६ से २८ तक अनुमान के तीन प्रकार बतलाये हैं - केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी। परि. २९ में इस से भिन्न प्रकार भी बतलाये हैं - दृष्ट,

समान्यतोदृष्ट तथा अदृष्ट। अनुमान के आभास के संबंध में असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, अनध्यवसित, कालात्ययापदिष्ट, अकिंचित्कर तथा प्रकरणसम इन सात हेत्वाभासों का वर्णन परि. ३० से ४२ तक है। परि. ४३-४४ में आत्माश्रय, इतरेतराश्रय आदि तर्क के प्रकार तथा उन के दोषों का वर्णन है। परि. ४५ से ४८ तक छल तथा उस के तीन प्रकारों का – वाक्छल, सामान्यछल और उपचारछल का वर्णन है। परि. ४९ से ६९ तक जाति अर्थात झूठे दूषणों के चौबीस प्रकारों का वर्णन है। परि. ७० से ८५ तक निग्रहस्थान अर्थात वाद में पराजय होने के कारणों के बाईस प्रकारों का वर्णन है। परि. ८६ से ९८ तक वाद के प्रकारों तथा अंगों का वर्णन है। व्याख्यावाद, गोष्ठीवाद तथा विवादवाद ये वाद के तीन प्रकार हैं। अथवा तात्त्विक, प्रातिभ, नियतार्थ एवं परार्थन ये वाद के चार प्रकार हैं। तथा सभापति, सभासद, वादी और प्रतिवादी ये वाद के चार अंग हैं। परि. ९९ से १०२ तक पत्र तथा उस के अंगों का वर्णन है। परि. १०३ से १२२ तक वाद और जल्प के न्याय-दर्शन में कहे गये लक्षणों का खण्डन करके वाद और जल्प में अभेद स्थापित किया है। परि. १२३-१२४ में आगम तथा उस के आभास का वर्णन है। परि. १२५ से १२८ तक करण प्रमाण अर्थात नापतौल की पद्धतियों का वर्णन है। परि. १२९ में अन्य दर्शनों में वर्णित प्रमाणों का उपर्युक्त व्यवस्था में समावेश करने की रीति बतलाई है तथा परि. १३० में अन्तिम पुष्पिका है।

८. **कुछ प्रमुख विशेषताएं**—आचार्य ने प्रमाण के विविध विषयों पर जो विचार व्यक्त किये हैं उन की अन्य जैन – जैनेतर आचार्यों के विचारों से तुलना करने का प्रयास हमने अन्तिम टिप्पणों में किया है। यहां इस तुलना से ज्ञात होनेवाली कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करते हैं।

(अ) प्रमाण के लक्षण में अपूर्वार्थ या अनधिगतार्थ के ग्रहण जैसा कोई शब्द नही है।

(आ) प्रत्यक्ष प्रमाण के चार भेद किये हैं – इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष।

(इ) परोक्ष प्रमाण के छह भेद किये हैं — स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, ऊहापोह, अनुमान, आगम।

(ई) अनुमान के छह अवयव माने हैं — पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन।

(उ) हेतुका लक्षण अन्यथानुपपत्ति न मानकर व्याप्तिमान पक्षधर्म होना माना है।

(ऊ) अनुमान के दो प्रकारों से भेद किये हैं — केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी; दृष्ट, सामान्यतोदृष्ट, अदृष्ट।

(ऋ) हेत्वाभासों के सात प्रकार किये हैं—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, अकिंचित्कर, अनध्यवसित, कालात्ययापदिष्ट तथा प्रकरणसम।

(ॠ) आत्माश्रय, इतरेतराश्रय आदि के लिए भी तर्क शब्द का प्रयोग किया है।

(ऌ) जातियोंकी संख्या बीस बतलाई है।

(ए) वाद के तीन (व्याख्या, गोष्ठी, विवाद) तथा चार (तात्त्विक, प्रातिभ, नियतार्थ, परार्थन) प्रकार बतलाये हैं।

(ऐ) वाद और जल्प में भेद होने का प्रबल खण्डन किया है।

(ओ) करणप्रमाण के अन्तर्गत द्रव्य, क्षेत्र तथा काल के नापने के प्रकार बतलाये हैं।

(औ) उपमानप्रमाण के अन्तर्गत आगमिक परंपरा के पल्य, रज्जु आदि की गणना भी बतलाई है।

इन बातों के अवलोकन से स्पष्ट होगा कि जहां आचार्य ने प्राचीन जैन आगमिक परम्परा के भावप्रमाण, करणप्रमाण, प्रत्यक्ष-परोक्ष आदि भेदों को सुरक्षित रखा है, वहा प्रत्यक्ष के भेद, हेतु का लक्षण, हेत्वाभास आदि के वर्णन में बौद्ध तथा नैयायिक विद्वानों के विचारों से भी लाभ उठाया है। जैन-जैनेतर विचारों के समन्वय की इस दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा।

९. उपसहार—आचार्य भावसेन का यह दूसरा न्यायविषयक ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। उन के पहले ग्रन्थ विश्वतत्त्वप्रकाश की तुलना में यह ग्रन्थ काफी छोटा है तथा प्रत्येक विषय की साधक-बाधक चर्चा भी इस में उतने विस्तार से नही है। तथापि विचारों की स्वतन्त्रता की दृष्टि से इस का महत्त्व अधिक सिद्ध होगा। हमें आशा है कि आचार्य के शेष ग्रन्थों के प्रकाशन का प्रबन्ध भी निकट भविष्य में हो सकेगा। इस ग्रन्थ की प्रति की प्राप्ति के लिए हम श्रीदेवेन्द्रकीर्ति स्वामीजी, हुम्मच, श्री. पंडित भुजबलि शास्त्रीजी, मुडबिद्री तथा श्री. पद्मनाभ शर्मा, मैसूर के बहुत आभारी हैं। इस के प्रकाशन की स्वीकृति के लिए आदरणीय डॉ. उपाध्येजी तथा डॉ. हीरालालजी के प्रति भी हम कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

जावरा
दीपावली
शक १८८६

विद्याधर जोहरापुरकर

श्री-भावसेन-त्रैविद्यदेव-विरचितं

प्रमाप्रमेयम्

[सिद्धान्तसार–मोक्षशास्त्रस्य प्रथमः परिच्छेदः]

॥ नमः सिद्धेभ्यः ॥

[१. मङ्गलाचरणम्]

श्रीवर्धमानं सुरराजपूज्यं साक्षात्कृताशेषपदार्थतत्त्वम् ।
सौख्याकरं मुक्तिपतिं प्रणम्य प्रमाप्रमेयं प्रकटं प्रवक्ष्ये ॥ १ ॥
बालव्युत्पत्त्यर्थं शास्त्रमिदं रच्यते मया स्पष्टम् ।
उद्देशलक्षणादौ सोढव्यं विश्वविद्वद्भिः ॥ २ ॥

[२. प्रमाणलक्षणम्]

अथ किं प्रमाणम् । पदार्थयाथात्म्यनिश्चयः प्रमाणम् । तच्च भाव-प्रमाणं करणप्रमाणमिति द्विविधम् । प्रमितिः प्रमाणमिति भावव्युत्पत्त्या

[अनुवाद]

देवों के राजा–इन्द्रों द्वारा पूजित, सुख के आकर – श्रेष्ठ निधि, मुक्ति के स्वामी, तथा समस्त पदार्थों के स्वरूप को जिन्हों ने साक्षात्-प्रत्यक्ष जाना है उन श्रीवर्धमान-महावीर जिन को प्रणाम कर के मैं प्रमाप्रमेय-प्रमाण तथा उन के विषयों–का स्पष्ट वर्णन करूंगा ॥

अज्ञानी लोगों को ज्ञान कराने के लिए मैं इस शास्त्र की स्पष्ट रूप से रचना करता हूं । इस के उद्देशों-संज्ञाओं में तथा लक्षणों– व्याख्याओं आदि में (कोई त्रुटि हो तो उसे) समस्त विद्वान सहन करें (– क्षमा कर के सुधारें) ॥

प्रमाण का लक्षण

प्रमाण क्या है ? पदार्थ के वास्तविक स्वरूपके निश्चय को (–यथार्थ ज्ञान को) प्रमाण कहते हैं । उसके दो प्रकार हैं –, भाव प्रमाण तथा करण

सम्यक् ज्ञानमेव प्रमाणम्। प्रकर्षेण संशयविपर्यासानध्यवसायव्यवच्छेदेन मीयते निर्णीयते वस्तुतत्त्वं येन तत् प्रमाणमिति करणव्युत्पत्त्या सम्यग्ज्ञानसाधनं प्रमाणम्। तत् प्रत्यक्षं परोक्षमिति द्विविधम्॥

[३. प्रत्यक्षप्रमाणभेदाः]

तत्र पदार्थानां साक्षात् प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन वेदनं प्रत्यक्षम्। तत्साधनं च। तच्च इन्द्रियप्रत्यक्षं मानसप्रत्यक्षं योगिप्रत्यक्षं स्वसंवेदनप्रत्यक्षमिति चतुर्धा॥

[४. इन्द्रियप्रत्यक्षम्]

आत्मावधानेनाव्यग्रमनसा सहकृतात् निर्दुष्टेन्द्रियात् जातम् इन्द्रियप्रत्यक्षम्। इन्द्रियं च स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियमिति पञ्चविधम्। तत् प्रत्येकं द्रव्यभावभेदात् द्विविधम्। निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्। तत्र निर्वृत्तिः नानाक्षुरप्रकुन्दकुड्मलमसूरयवनालीसंस्थाना।

~~~~~~~~~~

प्रमाण। प्रमिति ही प्रमाण है इस भाव–व्युत्पत्ति के अनुसार सम्यक् ज्ञान ही प्रमाण है। उत्तम रीतिसे अर्थात् संशय, विपर्यास तथा अनिश्चय को दूर कर के जो वस्तुतत्त्वका का निश्चय करता है वह प्रमाण है इस करण-व्युत्पत्ति के अनुसार सम्यक् ज्ञान का साधन प्रमाण कहलाता है। प्रमाण के दो प्रकार हैं–प्रत्यक्ष तथा परोक्ष।

प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद

साक्षात अर्थात दूसरे ज्ञान के व्यवधान के विना जो पदार्थों का जानना है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। उस जानने के साधन को भी प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। उस के चार प्रकार हैं – इंद्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष तथा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष

आत्मा का अवधान होने पर तथा मन व्यग्र न हो उस समय – इन दोनों के सहकार्य से निर्दोष इंद्रिय से प्राप्त होनेवाला ज्ञान इंद्रिय–प्रत्यक्ष है। इंद्रिय पांच प्रकार के हैं – स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्र। इन में प्रत्येक के दो प्रकार हैं – द्रव्य-इन्द्रिय तथा भाव-इन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय के दो भाग हैं – निर्वृत्ति तथा उपकरण। इन में निर्वृत्ति (इन्द्रिय का अन्तर्भाग) (स्पर्शनेन्द्रिय के लिए) कई प्रकारकी, (रसनेन्द्रिय के लिए) खुरपी के
~~~~~~~~~~

[illegible] शष्कुलीविवरमिति।
मनसो हृदये अष्टदलपद्माकारं द्रव्येन्द्रियम्। लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्।
तत्र ज्ञानावरणक्षयोपशमः लब्धिः। आत्मनो ग्रहणव्यापार उपयोगः।
स्पर्शरसगन्धरूपशब्दात्मस्मृत्यादयो विषयाः॥

[९. मानसप्रत्यक्षम्]

आत्मावधानेन सहकृतात् मानसात् जातं मानसप्रत्यक्षम्। स्पर्शन-रसनघ्राणश्रोत्रेन्द्रियं प्राप्तार्थे ज्ञानजनकम्। चक्षुरप्राप्तार्थे। मानसं त्वात्मनि

आकार की, (घ्राणेन्द्रिय के लिए) कुन्द की कली जैसी, (चक्षु इन्द्रिय के लिए) मसूर के दाने जैसी तथा (कर्ण इन्द्रिय के लिए) जौ की नाली जैसी होती है। (स्पर्शनेन्द्रिय के लिए) उपकरण संपूर्ण शरीर की त्वचा है, (रसनेन्द्रिय के लिए) जीभ, (घ्राणेन्द्रिय के लिए) नाक का गोल भाग, (चक्षु इन्द्रिय के लिए) पलकें, तथा (कर्ण इन्द्रिय के लिए) कान का शष्कुलीविवर उपकरण होता है। हृदय के स्थान में आठ पंखुड़ियों के कमल के आकार का मन है, वह मन के लिए द्रव्येन्द्रिय (द्रव्य मन) समझना चाहिए। भावेन्द्रिय के दो भाग हैं – लब्धि तथा उपयोग। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम को लब्धि कहते हैं। आत्मा द्वारा (पदार्थ के) ग्रहण (जानने) के लिए प्रयत्न करना यह उपयोग कहलाता है। स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द तथा अपना स्वरूप एवं स्मृति आदि (इन इन्द्रियों के तथा मन के) विषय हैं।

मानस प्रत्यक्ष

आत्मा के अवधान के सहकार्य से मन द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह मानस प्रत्यक्ष है। स्पर्शन, रसन, घ्राण तथा श्रोत्र ये इंद्रिय प्राप्त अर्थ का (– जिस से संपर्क हो उसी पदार्थ का) ज्ञान कराते हैं। चक्षु अप्राप्त अर्थ (जिस से संपर्क न हो उस पदार्थ) का ज्ञान कराता है। आत्मा तथा उसकी बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष एवं प्रयत्न के प्राप्त होने पर मन उन के विषय में प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न करता है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, ऊहापोह,

तदीयसुखदुःखेच्छाप्रयत्ने च प्राप्ते प्रत्यक्षं ज्ञानं जनयति। स्मृति-प्रत्यभिज्ञानोहापोहतर्कानुमानागमादिपरोक्षज्ञानम् अप्राप्ते जनयति॥

[६. अवग्रहादयः]

अनभ्यस्ते विषये सर्वेन्द्रियेभ्यः अवग्रहेहावायधारणाज्ञानानि जायन्ते। तत्र इन्द्रियार्थसंबन्धादुत्पन्नमाद्यज्ञानम् अवग्रहः। अयमेकः पदार्थ इति। अवग्रहगृहीतार्थे विशेषप्रतिपत्तिः ईहा। पुरुषेणानेन भवितव्यमिति। ईहितार्थे निर्णयः अवायः। पुरुष एवायमिति। कालान्तराविस्मरणहेतुसंस्कारजनकं धारणाज्ञानम्। स एवायं वृक्षः इति। अभ्यस्तविषये त्वादावेव अवायधारणे जायेते। न त्ववग्रहेहे॥

[७. योगिप्रत्यक्षम्—अवधिज्ञानम्]

ध्यानविशेषादावरणक्षयात् विशुद्धात्मान्तःकरणसंयोगात् जातः सकलपदार्थस्पष्टावभासः योगिप्रत्यक्षम्। ज्ञानावरणस्य विशिष्टक्षयोपश-

---

तर्क अनुमान तथा आगम इत्यादि परोक्ष ज्ञान अप्राप्त अर्थ के विषय में मनः उत्पन्न करता है।

अवग्रह आदि ज्ञान

जब विषय परिचित नही हो तब सब इन्द्रियों से उस के बारे में अवग्रह, ईहा, अवाय तथा धारणा ये ज्ञान होते हैं। यह एक पदार्थ है इस तरह इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाला प्राथमिक ज्ञान अवग्रह कहलाता है। अवग्रह से जाने हुए पदार्थ के विषय में विशेष विचार को ईहा कहते हैं, जैसे – यह पुरुष होना चाहिए। ईहा से जाने हुए पदार्थ के बारे में निश्चय होना यह अवाय ज्ञान है, जैसे–यह पुरुषही है। समय बीतने पर भी उस पदार्थ को न भूलने के कारणभूत संस्कार को उत्पन्न करे वह धारणाज्ञान है, जैसे–यह वही वृक्ष है। परिचित विषय के बारे में पहले ही अवाय तथा धारणा ज्ञान होते हैं, अवग्रह तथा ईहा ज्ञान नही होते।

योगिप्रत्यक्ष – अवधिज्ञान–

विशिष्ट ध्यान से (ज्ञानके) आवरण का क्षय होने पर विशुद्ध आत्मा का अन्तःकरण से संयोग होने पर जो सभी पदार्थों का स्पष्ट ज्ञान

मात्रकम् अवधिमनःपर्यायज्ञानमीषद्योगिप्रत्यक्षम्। पुद्गलान् संसारिजीवान् अवधीकृत्य जानातीत्यवधिज्ञानम्, देशपरमसर्वावधिभेदात् त्रिविधम्। तत्र देशावधिः भवप्रत्ययो गुणप्रत्ययश्च। भवप्रत्ययो देशावधेर्मध्यमः। स च तीर्थकरकुमारदेवनारकाणां सर्वाङ्गोत्थः। गुणप्रत्ययः मनुष्यतिरश्चां नाभेरुपरितनस्वस्तिकनन्द्यावर्तादिशुभचिह्नोत्थः। तद्विभङ्गो नाभेरधस्तनदर्दुराद्यशुभचिह्नोत्थः। देशावधेर्जघन्यः सामान्यमनुष्यतिरश्चाम्। उत्कृष्टः संयतानामेव। ऋजुमतिमनःपर्यायश्च। गुणप्रत्ययावधौ अनुगाम्यननुगाम्यवस्थितानवस्थितवर्धमानहीयमानभेदाश्च। परमावधिसर्वावधी चरमशरीरविरतानामेव। विपुलमतिमनःपर्यायश्च॥

होता है उसे योगिप्रत्यक्ष कहते हैं। ज्ञान के आवरण के विशिष्ट क्षयोपशम से उत्पन्न हुए अवधिज्ञान तथा मनःपर्यायज्ञान ईषद्योगिप्रत्यक्ष हैं। पुद्गल तथा संसारी जीवों को विशिष्ट अवधि (मर्यादा) तक जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं। उस के तीन प्रकार हैं – देशावधि, परमावधि तथा सर्वावधि। देशावधि दो प्रकार का होता है–भवप्रत्यय तथा गुणप्रत्यय। भवप्रत्यय (विशिष्ट जन्म के कारण प्राप्त होनेवाला) अवधिज्ञान देशावधि का मध्यम प्रकार है, वह तीर्थंकरों को बाल अवस्था में तथा देवों और नारकी जीवों को (जन्मतः) प्राप्त होता है तथा संपूर्ण शरीर में उद्भूत होता है। गुणप्रत्यय (तपस्या आदि विशिष्ट गुणों से प्राप्त होनेवाला) अवधिज्ञान मनुष्य तथा तिर्यंचों (पशु-पक्षियों) को प्राप्त हो सकता है तथा नाभि के ऊपर के स्वस्तिक, नन्द्यावर्त आदि शुभ चिन्हों से उद्भूत होता है। इस ज्ञान का विभंग (मिथ्यात्व से युक्त गुणप्रत्यय अवधिज्ञान) नाभि के नीचे के दर्दुर (मेंढक) जैसे अशुभ चिन्हों से उद्भूत होता है। देशावधि का जघन्य प्रकार सामान्य मनुष्य तथा तिर्यंचों को प्राप्त हो सकता है। देशावधि का उत्कृष्ट प्रकार सिर्फ संयतों (महाव्रतधारी मुनियों) को ही प्राप्त हो सकता है। ऋजुमति मनःपर्यायज्ञान भी संयतों को ही होना है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के छह भेद होते हैं– अनुगामी (एक स्थान से दूसरे स्थान में साथ जाये वह), अननुगामी (दूसरे स्थान में साथ न जानेवाला), अवस्थित (जिस की जानने की शक्ति स्थिर हो), अनवस्थित (जिस की जानने की शक्ति कम-अधिक होती हो), वर्धमान (बढनेवाला) तथा हीयमान (कम होनेवाला)। परमा-

[८. मनःपर्यायज्ञानम्]

परमनसि स्थितमर्थं मनसा पर्येति जानातीति मनःपर्यायज्ञानम्। ऋजुविपुलमती इति द्वैधम्। ऋजुमनोवाक्कायस्थितवर्तमानपुरुषचिन्तितमर्थं जानद् ऋजुमति। ऋजुवक्रमनोवाक्कायस्थित-अतीतानागतवर्तमान-पुरुषचिन्तितमर्थं जानद् विपुलमति॥

[९. स्वसंवेदनप्रत्यक्षम्]

सकलज्ञानानां स्वस्वरूपसंवेदनं स्वसंवेदनप्रत्यक्षम्॥

[१०. प्रत्यक्षाभासः]

मनःपर्ययोगिस्वसंवेदनप्रत्यक्षादन्यत्र प्रत्यक्षाभासोऽपि। स च संशयविपर्यासभेदात् द्वेधा। अनध्यवसायस्य अभावत्वेन प्रत्यक्षाभासत्वा-

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

वधि तथा सर्वावधि एवं विपुलमति मनःपर्यायज्ञान केवल चरमशरीरी मुनियों को (जो उसी जन्म के अन्त में मुक्त होंगे उन्हीं को) प्राप्त होता है।

मनःपर्याय ज्ञान

दूसरे के मन में स्थित अर्थ–विचार आदि को मन से प्राप्त करे अर्थात् जाने वह मनःपर्याय ज्ञान है। इस के दो प्रकार हैं- ऋजुमति तथा विपुलमति। सरल मन, वाणी तथा शरीर से युक्त वर्तमान समय के पुरुषों के विचारे हुए अर्थ को जाने वह ऋजुमति मनःपर्याय ज्ञान है। भूतकाल, भविष्यकाल तथा वर्तमानकाल के सरल तथा वक्र दोनों प्रकार के मन, वाणी तथा शरीर से युक्त पुरुषों के विचारे हुए अर्थ को जाने वह विपुलमति मनःपर्यायज्ञान है।

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष

सभी ज्ञान अपने अपने स्वरूप को जानते हैं इसी ज्ञान को स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष कहते हैं।

प्रत्यक्षाभास

मनःपर्याय, योगिप्रत्यक्ष तथा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष को छोड कर अन्यत्र (दूसरे) प्रत्यक्ष ज्ञानों के आभास भी होते हैं। उस के दो प्रकार हैं–संशय तथा विपर्यास। अनध्यवसाय (निश्चय का अभाव) प्रत्यक्षाभास नहीं है क्यों कि (ज्ञान का) अभाव यह उस का स्वरूप है (गलत ज्ञान को
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

भावः। तत्र साधारणाकारदर्शनात् विशेषादर्शनात् उभयविशेषस्मरणात् संशयः। यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। वादिविप्रतिपत्तेः शब्दो नित्यः अनित्यो वेति। क्वचिदनुपलब्धेः अत्र पिशाचोऽस्ति न वेति। साधारणाकारदर्शनात् विशेषादर्शनात् विपरीतविशेषस्मरणात् विपर्ययः। स्थाणौ पुरुषज्ञानम्, रज्जौ सर्पबुद्धिः, शुक्तिकाशकले रजतप्रतिपत्तिः, मरीचिकायां जलावबोधः। अर्थानामप्रतिपत्तिः अनध्यवसायः। स च ज्ञानस्य प्रागभावः संस्काररहितप्रध्वंसाभावश्च, न तु गच्छत्तृणस्पर्शादिज्ञानम्, तस्यावग्रहादिज्ञानत्वेन प्रमाणत्वात्। इति प्रत्यक्षप्रकरणम्॥

आभास कहते हैं, अनध्यवसाय में निश्चय का अभाव होने से उसे सही या गलत नही कह सकते, अतः वह आभास नही है)। दो पदार्थों में सामान्य आकार के देखने से, उन के विशेष (अन्तर) के न देखने से तथा उन विशेषों के स्मरण से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान संशय कहलाता है। जैसे– यह ठूँठ है या पुरुष है। वादियों के मतभेद से शब्द नित्य है या अनित्य है (ऐसा संशय भी होता है)। कहीं कहीं कुछ ज्ञान न होने से भी संशय होता है, जैसे– यहां पिशाच है या नही। साधारण आकार के देखने से, विशेष के न देखने से तथा विरुद्ध विशेष के स्मरण से जो ज्ञान होता है उसे विपर्यय कहते हैं, जैसे ठूँठ को पुरुष समझना, रस्सी को साँप मानना, सींप के टुकडे में चांदी का ज्ञान तथा मृगजल में जल का ज्ञान। पदार्थों के ज्ञान के न होने को अनध्यवसाय कहते हैं, वह ज्ञान का प्रागभाव है (ज्ञान होने के पहले उसका जो अभाव है वह प्रागभाव कहलाता है) अथवा संस्काररहित प्रध्वंसाभाव है (ज्ञान नष्ट होने के बाद जो उस का अभाव है वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है, ऐसा प्रध्वंसाभाव जिस में पहले हुए ज्ञान का कोई संस्कार न बचे– अनध्यवसाय कहलाता है)। मार्ग में जाते हुए घासफूस आदि के स्पर्श के ज्ञान को अनध्यवसाय नही कहना चाहिए क्यों कि वह ज्ञान अवग्रह-ज्ञान होने से प्रमाण है (अतः उसे प्रत्यक्षाभास नही कह सकते)। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण का वर्णन पूरा हुआ।

[११. परोक्षभेदाः]

परोक्षं च आत्मावधानप्रत्यक्षादिकारणकं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहापोह-तर्कानुमानागमभेदम् ॥

[१२. स्मृतिः]

संस्कारोद्बोधजनिता तदिति प्रतीतिः स्मृतिः। स देवदत्तः इत्यादि। स्मृतिः प्रमाणं दत्तनिक्षेपादिषु प्रवृत्तिप्राप्तिग्रहणान्यथानुपपत्तेः। अथ स्मृत्योद्बोधितप्राक्तनानुभवात् देवदत्तादिषु प्रवृत्त्याद्युपपत्तेः अर्थापत्ते-रन्यथोपपत्तिरिति चेत् न। प्राक्तनानुभवस्य विनष्टस्य उद्बोधना-संभवात्। तथा हि-प्राक्तनानुभवो नोद्बुध्यते इदानीमविद्यमानत्वात् चिरविनष्टत्वात् रामादिवत्। प्रवृत्त्यादिहेत्वनुपपत्तेश्च। तथा हि-प्राक्त-नानुभवो दत्तादिषु इदानींतनप्रवृत्त्यादिहेतुर्न भवति प्रवृत्त्यादिकालेऽ-

---

परोक्ष प्रमाण के भेद

परोक्ष प्रमाण वह है जिस में आत्मा के अवधान के साथ प्रत्यक्ष आदि कोई प्रमाण कारण होता हो। इसके छह प्रकार हैं - स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, ऊहापोह, तर्क, अनुमान और आगम।

स्मृति

(पहले हुए ज्ञान के) संस्कार के उद्बोधन से उत्पन्न होनेवाले 'वह' इस प्रकार के ज्ञान को स्मृति कहते हैं, जैसे-वह देवदत्त। स्मृति प्रमाण है क्यों कि इस के बिना दिये हुए अथवा धरोहर रखे हुए (धन आदि) के विषय में प्रवृत्त होना, प्राप्ति अथवा स्वीकार की उपपत्ति नही लगती (स्मृति के प्रमाण होने पर ही ये व्यवहार हो सकते हैं)। स्मृति के द्वारा जागृत हुए पुराने अनुभव से ही देवदत्त आदि के विषय में प्रवृत्ति होती है इस उपपत्ति से-अर्थापत्ति से दूसरे प्रकारसे (उक्त व्यवहार की) उपपत्ति लगती है (अतः स्मृति को प्रमाण मानना जरूरी नही) यह कहना ठीक नहीं क्यों कि पुराना अनुभव जागृत होना संभव नही क्यों कि वह नष्ट हो चुका होता है। जैसे कि (अनुमान-प्रयोग होगा-) पुरातन अनुभव जागृत नही हो सकता क्यों कि वह इस समय विद्यमान नही है; तथा राम आदि के समान बहुत पहले ही नष्ट हो चुका है। प्रवृत्ति आदि के कारण होने की

विद्यमानत्वात् चिरविनष्टत्वात् रामादिवदिति। तथा स्मृतिः प्रमाणं सम्यग्ज्ञानत्वात् ज्ञातार्थाव्यभिचारित्वात् बाधकेन विहीनत्वात् निर्दुष्टप्रत्यक्षवत्। अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः स्मरणाभासः। यज्ञदत्ते स देवदत्त इति प्रतीतिः इत्यादि॥

[१२. प्रत्यभिज्ञानम्]

दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम्। तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगि तदुक्तमेवेत्यादि। यथा स एवायं देवदत्तः, गोसदृशो गवयः, गोविलक्षणो महिषः इदमस्माद् दूरम्, वृक्षोऽयमित्यादि। चेदं प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणम् अविसंवादित्वात् गृहीतार्थाव्यभि-

---

भी इस तरह उपपत्ति नही लगती। जैसे कि–पुरातन अनुभव किये हुए (धन) आदि के विषय में इस समय की प्रवृत्ति आदि का कारण नही हो सकता क्यों कि वह इस प्रवृत्ति के समय में विद्यमान ही नही है, वह राम आदि के समान बहुत पहलेही नष्ट हो चुका है। स्मृति इसलिए भी प्रमाण है कि वह यथार्थ ज्ञान है, ज्ञात अर्थ (जाने हुए पदार्थ) से उस का विरोध नही होता, उस में बाधक नही है, इन सब बातों में स्मृति निर्दोष प्रत्यक्ष के ही समान है। जो वह नही है उस के विषय में 'वह' इस प्रकार का ज्ञान होना स्मरण का आभास है, जैसे यज्ञदत्त के विषय में 'वह देवदत्त' इस प्रकार का स्मृति-ज्ञान स्मृति का आभास है।

प्रत्यभिज्ञान

(किसी वस्तु के) देखने तथा (पहले देखी हुई किसी वस्तु का) स्मरण करने से जो संकलित ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं जैसे– यह वही है, यह उस जैसा है, यह उस से भिन्न है, यह उस के उलटा है, यह पहले ही कहा हुआ है इत्यादि। उदाहरणार्थ–यह वही देवदत्त है, गवय गाय जैसा है, भैंसा गाय से भिन्न है, यह यहांसे दूर है, यह वृक्ष है इत्यादि। यह प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है क्यों कि वह अविसंवादी है (पदार्थों के स्वरूप से उस का विरोध नही होता) जाने हुए पदार्थ से वह विरुद्ध नही होता, वह बाधित नही होता, उस में बाधक नही है, इन सब बातों में वह दोषरहित प्रत्यक्ष ज्ञान के समान ही है। सब वस्तुएं क्षणिक हैं

कारित्वात् अबाध्यत्वात् बाधकेन हीनत्वात् निर्दुष्टप्रत्यक्षवत्। अथ सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् प्रदीपवत् इत्यनुमानं बाधकमस्तीति चेन्न। तस्यान- ध्यवसितत्वेन हेत्वाभासत्वात्। ननु लूनपुनर्जातनखकेशादौ प्रत्यभि- ज्ञानस्य भ्रान्तिदर्शनात् अप्रामाण्यमिति चेत् तर्हि रज्जुसर्पादौ प्रत्यक्षस्य भ्रान्तिदर्शनात् सर्वस्य प्रत्यक्षस्य अप्रामाण्यं स्यादिति अतिप्रसज्यते। सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तत्सदृशम् इत्यादि प्रत्ययः प्रत्यभिज्ञाभासः॥

[१४. ऊहापोहः]

अनेनेदं भवतीति विना न भवतीत्यादि याथात्म्यज्ञानम् ऊहापोहः।

क्यों कि वे सत् हैं जैसे दीपक इस अनुमान से (प्रत्यभिज्ञान के प्रमाण होने में) बाधा उपस्थित होती है (सब पदार्थ एक ही क्षण अस्तित्व में रहते हैं अतः यह वही है आदि ज्ञान-जो कि अनेक क्षणों में पदार्थ के अस्तित्व पर आधारित हैं-अप्रमाण हैं ऐसा मानना चाहिए) यह कथन ठीक नही। यह हेतु (जो सत् हैं वे क्षणिक हैं यह कहना) अनध्यवसित (अनिश्चित) होने से हेत्वाभास है। एक बार काटने पर नख तथा केश पुनः उगते हैं उन में (ये वही नख केश हैं इस प्रकार का) प्रत्यभिज्ञान भ्रमपूर्ण होता है ऐसा देखा जाता है अतः उसे अप्रमाण मानना चाहिए ऐसा यदि कहें तो रस्सी को सांप समझने मे प्रत्यक्ष भी भ्रमपूर्ण होता है अतः सभी प्रत्यक्ष को अप्रमाण मानने का अतिप्रसंग आयेगा (तात्पर्य-जिस तरह रस्सी में सांप का ज्ञान भ्रान्त होने पर भी सभी प्रत्यक्ष ज्ञान भ्रान्त नही होते उसी तरह फिर से उगे हुए नखों में प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त होने पर भी सभी प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त नही होते)। जो उस जैसा है उस के विषय में यह वही है ऐसा समझना, उसी के विषय में यह उस जैसा है ऐसा समझना आदि प्रत्यभिज्ञान के आभास होते हैं।

ऊहापोह

इस से यह होता है, इस के विना यह नही होता इस तरह के वास्त- विक ज्ञान को ऊहापोह कहते हैं। जैसे-इच्छा पूरी होने से सब को सन्तोष

इच्छाप्रतिपालनेन सर्वेषां प्रीतिः इच्छाविघातेन सर्वेषां द्वेषः इत्यादि। तद्विपरीतः तदाभासः॥

[१५. तर्कः]

साध्यसाधनयोः व्याप्तिज्ञानं तर्कः। साधनसामान्यस्य साध्यसामान्येन अव्यभिचारः संबन्धो व्याप्तिः। सा चान्वयव्यतिरेकभेदात् द्वेधा। सपक्षे भूयः साधनसद्भावदर्शने साध्यसद्भावदर्शनेन निश्चिता अन्वयव्याप्तिः। यो यो धूमवान् स सर्वोऽप्यग्निमान् यथा महानसादिरिति। विपक्षे भूयः साध्याभावदर्शने साधनाभावदर्शनेन निश्चिता व्यतिरेकव्याप्तिः। यो योऽग्निमान् न भवति स सर्वोऽपि धूमवान् न भवति यथा ह्रदादिरिति। अव्याप्तौ व्याप्तिज्ञानं तर्काभासः यद् यत् प्रमेयं तत् तन्नित्यमित्यादि॥

होता है, इच्छा में रुकावट आने से सब नाराज होते हैं इत्यादि। इस के विपरीत (अवास्तविक) ज्ञान को इस का आभास समझना चाहिए।

तर्क

साध्य और साधन की व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। साधन के सामान्य स्वरूप का साध्य के सामान्य स्वरूप से कभी न बदलनेवाला जो संबंध होता है उसे व्याप्ति कहते हैं। उस के दो प्रकार हैं – अन्वय तथा व्यतिरेक। समान पक्ष में बारबार साधन का अस्तित्व देखने के समय साध्य का भी अस्तित्व देखने से जिस का निश्चय हुआ हो वह अन्वयव्याप्ति होती है। जैसे – जो जो धुंए से युक्त होता है वह सब अग्नि युक्त होता है जैसे – रसोईघर (यहां रसोईघर आदि समानपक्षों में धुंआ इस साधन के होनेपर अग्नि इस साध्य का भी अस्तित्व बारबार देखा गया है अतः जहां धुंआ होता है वहां अग्निभी होता है यह अन्वयव्याप्ति निश्चित हुई)। विरुद्ध पक्ष में बारबार साध्य का अभाव देखने पर साधन का भी अभाव देखने से जिस का निश्चय हो वह व्यतिरेकव्याप्ति होती है। जैसे –जो जो अग्नि से युक्त नहीं होता वह सब धुंए से युक्त भी नहीं होता जैसे सरोवर आदि। जहां व्याप्ति न हो वहां व्याप्ति समझना तर्क का आभास है, जैसे – जो जो प्रमेय है वह वह नित्य होता है (यहां जो प्रमेय होता है वह नित्य होता है यह-

[१६. अनुमानम्]

सम्यक्साधनात् साध्यविज्ञानम् अनुमानम्। स्वार्थपरार्थभेदात् द्विविधम्। परोपदेशमन्तरेण साधनदर्शनात् साध्यविज्ञानं स्वार्थानुमानम्। स्वार्थानुमानपरामर्शिपुरुषवचनात् ज्ञातं परार्थानुमानम्। तद्वचनमपि तद्हेतुत्वात् परार्थानुमानमेव। तत्र अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, यो यः कृतकः स सर्वोऽप्यनित्यः यथा घटः, यद्यद्नित्यं न भवति तत् तत् कृतकं न भवति यथा व्योम, कृतकश्चायं शब्दः, तस्मादनित्यः इति। पक्षसाध्यहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनान्यवयवाः षट् प्रसिद्धाः॥

[१७. पक्षः]

सिषाधयिषितधर्माधारो धर्मी पक्षः। शब्दः इति। पक्षस्य प्रसिद्धत्वं

व्याप्ति नहीं हो सकती क्यों कि बहुतसे प्रमेय अनित्य भी होते हैं, अतः इसे यदि व्याप्ति माना जाता है तो उस ज्ञान को तर्काभास कहा जायेगा)।

अनुमान

योग्य साधन से साध्य का ज्ञान होना यह अनुमान प्रमाण है। इस के दो प्रकार हैं – स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान। दूसरे के उपदेश के बिना साधन को देखने से जो साध्य का ज्ञान होता है वह स्वार्थानुमान है। स्वार्थानुमान के जाननेवाले पुरुष के कहने से जो ज्ञान होता है वह परार्थानुमान है। उस का कारण होने से ऐसे अनुमान के कथन को भी परार्थानुमानही कहते हैं (वाक्य शब्दों से बना होता है अतः वह जड होता है इस लिए प्रमाण नहीं हो सकता किन्तु यहां का वाक्य परार्थानुमान का ज्ञान कराने का कारण है अतः उसे व्यवहार से अनुमानप्रमाण कहते हैं)। उस का उदाहरण– शब्द अनित्य है क्यों कि वह कृतक है, जो जो कृतक होता है वह सभी अनित्य होता है जैसे घट, जो जो अनित्य नहीं होता वह कृतक नहीं होता जैसे आकाश, और यह शब्द कृतक है इस लिए यह अनित्य है। अनुमान के छह अवयव प्रसिद्ध हैं – पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन।

पक्ष

जिसे सिद्ध करने की इच्छा है उस धर्म (गुण) के आधार धर्मी (धर्म

प्रमाणात् विकल्पात् उभयाच्च। प्रमाणं प्रागुक्तलक्षणम्। पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्त्वात् महानसवत् इत्यादौ प्रमाणप्रसिद्धः पक्षः। विकल्पस्तु प्रमाणाप्रमाणसाधारणज्ञानम् जलमरीचिकासाधारणप्रदेशे जलज्ञानवत्। वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा, अस्ति सर्वज्ञः असंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् करतलवत् इत्यादौ विकल्पसिद्धः पक्षः। अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत् इत्यादौ उभयप्रसिद्धः पक्षः॥

से युक्त पदार्थ) को पक्ष कहते हैं, जैसे (उपर्युक्त अनुमान में अनित्यत्व इस धर्म का आधार है) शब्द। पक्ष तीन प्रकार से प्रसिद्ध होता है – प्रमाण से, विकल्प से तथा दोनों से। 'पर्वत अग्नियुक्त है क्यों कि वह धूमयुक्त है, जैसे रसोईघर' इस जैसे अनुमान में पक्ष प्रमाण से प्रसिद्ध है (पर्वत इस पक्ष का प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञान हो चुका है)। प्रमाण और अप्रमाण दोनों में जो हो सकता है ऐसे ज्ञान को विकल्प कहते हैं, जैसे जहां मृगजल हमेशा दीखता हो ऐसे प्रदेश में होनेवाला जल का ज्ञान (जहां हमेशा मृगजल दीखने की संभावना हो ऐसे प्रदेश में जल दीखने पर विकल्प होगा कि यह वास्तविक जल है या मृगजल है)। सभी वेदाध्ययन गुर्वध्ययनपूर्वक है (शिष्य वेद पढता है यह तभी संभव है जब गुरु ने वेद पढा हो अतः शिष्य के अध्ययन से पूर्व नियम से गुरु का अध्ययन हुआ है) क्यों कि वह वेदाध्ययन है जैसे आजकल का वेदाध्ययन, इस अनुमान में पक्ष विकल्पसिद्ध है (सभी वेदाध्ययन यह पक्ष है इस का अनुमान करनेवाले को जो ज्ञान हुआ है वह विकल्पसिद्ध है – सभी वेदाध्ययन को उसने प्रमाण से नही जाना है)। इसी प्रकार सर्वज्ञ है क्यों कि उस के अस्तित्व में बाधक प्रमाण संभव नही हैं, जैसे अपना हाथ (अपने हाथ के अस्तित्व में कोई बाधा नही उसी तरह सर्वज्ञ के अस्तित्व में कोई बाधा नही है) इस अनुमान में भी विकल्पसिद्ध पक्ष है (सर्वज्ञ यह पक्ष है वह प्रतिवादी के लिए अज्ञात और वादी के लिए ज्ञात है अतः विकल्पसिद्ध है)। शब्द अनित्य है क्यों कि वह कृतक है जैसे घट– ऐसे अनुमानों में पक्ष उभयप्रसिद्ध है (कुछ वादियों के लिए इस पक्ष का – शब्द का – ज्ञान प्रमाणसिद्ध है तो कुछ के लिए विकल्पसिद्ध है)।

[१८. साध्यम्]

स्वसिद्धं परासिद्धं साध्यम्। अनित्यः इति ॥

[१९. हेतुः]

व्याप्तिमान् पक्षधर्मो हेतुः। कृतकत्वात् इति। तस्य हेतोः पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षेऽसत्त्वम् असिद्धसाधकत्वम् अबाधितविषयत्वम् असत्प्रतिपक्षत्वमिति षड् गुणाः। तत्र साध्यधर्माधारो धर्मी पक्षः, पक्षे सर्वत्र हेतोः प्रवर्तनम् पक्षधर्मत्वम्। साध्यसमानधर्मा धर्मी सपक्षः सपक्षे सर्वत्र एकदेशे वा हेतोः प्रवर्तनं सपक्षे सत्त्वम्। साध्यविपरीत-धर्मा धर्मी विपक्षः, विपक्षे सर्वत्र हेतोरप्रवर्तनं विपक्षेऽसत्त्वम्। प्रति-वादिनः संदिग्धविपर्यस्ताप्रतिपन्नम् असिद्धम्, तत्साधनं हेतोरसिद्ध-साधनत्वम्। अबाधितसाध्ये पक्षे हेतोः प्रवर्तनम् अबाधितविषयत्वम्।

साध्य

जो अपने लिए सिद्ध हो और दूसरें के लिए असिद्ध हो (उसे सिद्ध कर बतलाना हो) वह साध्य है, जैसे (उपर्युक्त अनुमान में शब्द का) अनित्य होना।

हेतु

व्याप्ति से युक्त पक्ष के धर्म को हेतु कहते हैं। जैसे – (उपर्युक्त अनु-मान में) क्यों कि (शब्द) कृतक है। हेतु के छह गुण होते हैं – पक्ष का धर्म होना, सपक्ष में अस्तित्व, विपक्ष में अभाव, ऐसी बात को सिद्ध करना जो अब तक सिद्ध नही हुई हो, ऐसी बात को सिद्ध करना जो बाधित न हो तथा जिस में प्रतिपक्ष संभव न हो। सिद्ध करने योग्य धर्म के आधार को पक्ष कहते हैं, पक्ष में हेतु का सर्वत्र अस्तित्व होना यह पक्षधर्मत्व नाम का पहला गुण है। साध्य के समान धर्म जिस धर्मी (गुणयुक्त पदार्थ) में होते हैं उसे सपक्ष कहते हैं, सपक्ष में सर्वत्र या एक हिस्से में हेतु के होने को सपक्ष में सत्त्व कहते हैं (यह दूसरा गुण है)। साध्य के विरुद्ध धर्म जिस धर्मी में होते हैं उसे विपक्ष कहते हैं, विपक्ष में सर्वत्र हेतु का अभाव होना यह विपक्ष में असत्त्व नामका तीसरा गुण है। प्रतिवादी के लिए जो संदेहयुक्त, विपर्यास-युक्त या अज्ञात होता है उसे असिद्ध कहते हैं, ऐसे साध्य को सिद्ध

यद्यपि विपरीते हेतोः अत्रिरूपत्वम् असत्प्रतिपक्षत्वं, तच्च विपक्षे असत्त्वात् नार्थान्तरम्। हेतोः विपक्षे असत्त्वनिश्चये साध्यविपरीते अत्रिरूपत्वं निश्चितमिति। तथापि श्रोतॄणां व्युत्पत्त्यर्थं पृथङ् निरूपणम्॥

[२०. दृष्टान्तः]

दृष्टौ अन्तौ साध्यसाधनधर्मौ तदभावौ वा वादिप्रतिवादिभ्याम् अविगानेन यस्मिन् धर्मिणि स दृष्टान्तः। स च अन्वयो व्यतिरेकश्चेति द्वेधा। साधनसद्भावे साध्यसद्भावो यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः। यो यः कृतकः स सर्वोऽप्यनित्यः यथा घटः इति। साध्याभावे साधनाभावो यत्र वीक्ष्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः। यद् यदनित्यं न भवति तत् तत् कृतकं न भवति यथा व्योमेति॥

करना वह असिद्धसाधनत्व नामका चौथा गुण है। जिस पक्ष में साध्य बाधित न हो उस में हेतु का होना अबाधितविषयत्व नाम का पांचवा गुण है। यद्यपि साध्य के विरुद्ध पक्ष में हेतु के तीन रूप (पक्षधर्मत्व, सपक्ष-सत्त्व तथा विपक्षे असत्त्व) न होना यही असत्प्रतिपक्षत्व नामका छठा गुण है तथा यह विपक्ष में अभाव इस तीसरे गुण से भिन्न नही है, विपक्ष में हेतु का अभाव निश्चित होनेसे ही साध्य के विरुद्ध पक्ष में हेतु के तीन रूप न होना निश्चित हो जाता है, तथापि श्रोताओं को स्पष्ट रूप से समझानेके लिए इसे अलग गुण के रूप में बतलाया है।

दृष्टान्त

वादी और प्रतिवादी दोनों की मान्यता से जिस धर्मी में दो अन्त अर्थात् साध्यधर्म और साधनधर्म देखे जाते हैं अथवा साध्यधर्म और साधन-धर्म का अभाव देखा जाता है उस धर्मी को दृष्टान्त कहते हैं। उस के दो प्रकार हैं – अन्वय दृष्टान्त तथा व्यतिरेक दृष्टान्त। जिस में साधन के होनेपर साध्य का होना बतलाया जाय उसे अन्वय दृष्टान्त कहते हैं। जैसे–जो जो कृतक होता है वह सभी अनित्य होता है जैसे घट (यहां घट इस दृष्टान्त में कृतकत्व यह साधनधर्म है तथा अनित्यत्व यह साध्य धर्म है इन के अन्वय के कारण यह अन्वय दृष्टान्त है)। साध्य के न होने पर साधन का न होना जिस में देखा जाय वह व्यतिरेक दृष्टान्त है। जैसे–जो जो अनित्य नही होता

[२१. उपनयनिगमने]

पक्षधर्मत्वप्रदर्शनार्थं हेतोरुपस्कारः उपनयः। कृतकश्चायं शब्दः इति। उक्तोपसंहारार्थं प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्। तस्मादनित्यः इति॥

[२२. हेतोः पक्षधर्मत्वम्]

ननु पक्षधर्मो हेतुरित्ययुक्तम् उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात् इत्यादेः अपक्षधर्मस्यापि सम्यग्घेतुत्वात् इति चेत् न। अपक्षधर्मस्यासिद्धत्वात्। तथा हि, अनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात् इत्यविद्यमानसत्ताकस्य स्वयमेव निरूपणात्। वीता हेतवः असिद्धाः अपक्षधर्मत्वात् शब्दे चाक्षुषत्ववदिति प्रयोगाच्च। चाक्षुषत्वस्य अन्यत्र सत्त्वेऽपि पक्षे असत्त्वादेवासिद्धत्वम्

वह कृतक नही होता जैसे आकाश (यहां आकाश इस दृष्टान्त में अनित्यत्व यह साध्यधर्म तथा कृतकत्व यह साधनधर्म दोनों नही हैं)।

उपनय और निगमन

हेतु पक्ष का धर्म है यह बतलाने के लिए हेतु को उपस्कृत करना यह उपनय है। जैसे (उपर्युक्त अनुमान में)-और यह शब्द कृतक है (शब्द पक्ष है, उस मे कृतकत्व हेतु का उपस्कार किया गया, यही उपनय है)। कहे गये अनुमान के उपसंहार के लिए प्रतिज्ञा को पुनः कहना यह निगमन है। जैसे (उपर्युक्त अनुमान मे)-इस लिए शब्द अनित्य है।

हेतु पक्ष का धर्म होता है

यहां प्रश्न होता है कि हेतु को पक्ष का धर्म कहना ठीक नही क्यों कि (कुछ समय बाद) रोहिणी नक्षत्र का उदय होगा क्यों कि (इस समय) कृत्तिका नक्षत्र का उदय हुआ है इत्यादि अनुमानों में जो हेतु पक्ष का धर्म नही है वह भी योग्य हेतु होता है (उपर्युक्त अनुमान में कृत्तिका का उदय यह हेतु रोहिणी इस पक्ष का गुण नही है फिर भी उस से रोहिणी के उदय का यथार्थ अनुमान होता है)। यह शंका ठीक नही क्यों कि जो हेतु पक्ष का धर्म नही होता वह असिद्ध होता है। जैसे -शब्द अनित्य है क्यों कि वह

नान्यथा, अतिप्रसंगात्। तस्य साध्याविनाभावाभावात् असिद्धत्वे विरुद्धानैकान्तिकाकिंचित्कराणामपि असिद्धत्वमेवेति एक एव हेत्वाभासः स्यात्। तथा च चत्वारो हेत्वाभासाः असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिंचित्कराः इत्यसंगतं स्यात्। तस्मात् हेतोः पक्षधर्मत्वे सत्येव विवक्षितपक्षे प्रकृतसाध्यप्रसाधकत्वम् नाविनाभावमात्रात्। अन्यथा पर्वतोऽग्निमान् महानसस्य धूमवत्वात् इत्यादेरपि साध्ये प्रसाधकत्वं स्यात् तस्यापि साध्यविनाभावसद्भावात्, न चैवं, ततः पक्षधर्म एव सम्यग् हेतुरित्यङ्गीकर्तव्यः॥

चाक्षुष (आंखों से देखा जानेवाला) है यह हेतु अविद्यमान सत्ताक है (इस हेतु का अस्तित्व ही नही है क्यों कि शब्द आंखों से नही देखा जाता) यह शंकाकार ने स्वयं कहा है (इसी प्रकार जो हेतु पक्ष का धर्म नही होता वह असिद्ध होता है)। ऐसा अनुमान-प्रयोग भी कर सकते हैं – ये हेतु (जो पक्ष के धर्म नही हैं) असिद्ध हैं क्यों कि वे पक्ष के धर्म नही हैं जैसे शब्द का चाक्षुष होना। आंखो से देखा जाना दूसरे पदार्थों में तो पाया जाता है किन्तु पक्ष (शब्द) में नही है इसी लिए उसे असिद्ध कहते हैं और किसी कारण से नही, अन्यथा अतिप्रसंग होगा। इस हेतु का साध्य से अविनाभाव (उस के होने पर ही यह होता है इस तरह का नियत संबंध) नही है अतः वह असिद्ध है ऐसा कहें तो विरुद्ध, अनैकान्तिक, अकिंचित्कर ये सब हेत्वाभास भी असिद्धही होंगे (क्यों कि इन का भी साध्य से अविनाभाव नही होता) अतः हेत्वाभास एकही होगा और हेत्वाभास चार हैं – असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिंचित्कर – यह शंकाकार का कथन सुसंगत नही होगा। इस लिए हेतु पक्ष का धर्म हो तभी वह किसी पक्ष में इष्ट साध्य को सिद्ध कर सकता है केवल, अविनाभाव से नही। अन्यथा पर्वत अग्नि से युक्त है क्यों कि रसोई घर में धुंआ है इत्यादि हेतु भी साध्य को सिद्ध कर सकेंगे (तात्पर्य– धुंआ और अग्नि इन का अविनाभाव संबंध होने पर भी धुंए से अग्नि का अनुमान तभी होगा जब वह पर्वत इस पक्ष में विद्यमान हो) क्यों कि उन का भी साध्य से अविनाभाव है, किन्तु ऐसा नही होता, अतः पक्ष का धर्म ही योग्य हेतु होता है ऐसा मानना चाहिए।

[२२. पक्षधर्मस्य हेतोः व्याप्तिमत्त्वम्]

ननु स कथमङ्गीक्रियते। देशान्तरं गतः पुत्रः स श्यामो मैत्रतनय-त्वात् इतरतत्तनयवत् इत्यादेः पक्षधर्मस्यापि असम्यग्हेतुत्वात् इति चेन्न। तस्य भूयोदर्शनात् व्याप्तिग्रहणकाल एव एकपितृजन्यानामेकवर्णव्यभि-चारेण व्याप्तिवैकल्यादेव असम्यग्हेतुत्वात्। तस्मात् व्याप्तिमान् अपक्ष-धर्मः व्याप्तिरहितः पक्षधर्मः वा न सम्यग्हेतुः। किंतु व्याप्तिमान् पक्ष-

---

पक्ष का धर्म हेतु व्याप्तियुक्त भी होना चाहिए

यहां प्रश्न होता है कि पक्ष के धर्म को ही हेतु मानना कैसे उचित है? मैत्र का एक पुत्र जो विदेश में गया है, सांवला है क्यों कि वह मैत्र का पुत्र है जैसे मैत्र के दूसरे पुत्र – इस प्रकार के अनुमान में हेतु पक्ष का धर्म होने पर भी योग्य हेतु नही है (मैत्र का पुत्र होना यह हेतु विदेश में गये हुए मैत्र के पुत्र में – पक्ष में विद्यमान है फिर भी उस से उस का सांवला होना सिद्ध नही होता – वह मैत्र का पुत्र गोरा भी हो सकता है, अतः हेतु पक्ष का धर्म होने पर योग्य ही होगा ऐसा नही कह सकते)। किन्तु यह शंका ठीक नही है। यहां बार बार देखने से व्याप्ति का ग्रहण करने के समय में ही एक पिता के कई पुत्र एक ही रंग के नही होते यह देखने से (जो मैत्र का पुत्र है वह सांवला होता है यह) व्याप्ति गलत सिद्ध होती है अतः उसी कारण से हेतु भी गलत होता है (हेतु के गलत होने का कारण पक्ष का धर्म होना यह नही है – व्याप्ति गलत होना यह हेतु गलत होने का कारण है)। अतः जो व्याप्ति से युक्त है किन्तु पक्ष का धर्म नही है वह योग्य हेतु नही होता; तथा जो व्याप्ति से रहित है और पक्ष का धर्म है वह भी योग्य हेतु नही होता। जो व्याप्ति से युक्त होते हुए पक्ष का धर्म है वही योग्य हेतु होता है। फिर कृत्तिका के उदय से रोहिणी के उदय का अनुमान किस तरह होता है (क्यों कि कृत्तिका-उदय यह हेतु रोहिणी इस पक्ष का धर्म नही है) इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यहां कुशल व्यक्ति अनुमान का प्रयोग इस प्रकार करते हैं – यह कृत्तिका नक्षत्र का उदय एक घटिका के बाद रोहिणी नक्षत्र के उदय से युक्त होता है क्यों कि यह कृत्तिका का उदय है जैसे पहले देखे हुए कृत्तिका के उदय (इस अनुमान-प्रयोग में कृत्तिका

धर्म एव सम्यग्घेतुः। तर्हि शाकटोदयकृत्तिकोदयानां गम्यगमकभावः कथमिति चेत् वीतः कृत्तिकोदयः मुहूर्तान्ते शाकटोदयवान् कृत्तिकोदयत्वात् प्राक्परिदृष्टकृत्तिकोदयवत् इत्यादि कुशलप्रयोगादिति ब्रूमः ॥

[२४. हेतोः अपक्षधर्मत्वनिषेधः]

ननु नदीपूरोऽप्यधोदेशे वृत्तः सन्नुपरिस्थिताम्।
नियम्यो गमयत्येव वृत्तां वृष्टिं नियामिकाम् ॥ ३ ॥
पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन पुत्रब्राह्मणतानुमा।
सर्वलोकप्रसिद्धा न पक्षधर्ममपेक्षते ॥ ४ ॥

उपरि वृष्टो देवः अधोदेशे नदीपूरस्यान्यथानुपपत्तेः, पुत्रः ब्राह्मणः मातापित्रोः ब्राह्मण्यस्यान्यथानुपपत्तेः, इत्यादेरपक्षधर्मस्यापि गमकत्वमस्ति इति चेन्न। अपक्षधर्मस्य कल्प्यस्य गमकत्वानुपपत्तेः। कुत इति चेत् पक्षे

का उदय यह पक्ष हुआ, इस में कृत्तिका का उदय होना यह हेतु विद्यमान है अत: उस से कृत्तिका के बाद रोहिणी के उदय से युक्त होना यह साध्य सिद्ध होता है)।

जो पक्ष का धर्म नही वह हेतु नही होता

यहां प्रश्न होता है कि नदी में बाढ नीचे के प्रदेश में होती है किन्तु उस नियम्य (साधन) से ऊपर के प्रदेश में हुई नियामिका (साध्य) भारी वर्षा का अनुमान होता ही है (यद्यपि यहां बाढ यह हेतु ऊपर का प्रदेश इस पक्ष में नही होता)। इसी प्रकार मातापिता के ब्राह्मण होने से पुत्र के ब्राह्मण होने का अनुमान होता है यह सब लोगों में प्रसिद्ध है, यहां भी (मातापिता का ब्राह्मण होना यह हेतु पुत्र इस पक्ष में नही है अत:) हेतु में पक्षधर्म होना जरूरी नही है। ऊपर के प्रदेश में वर्षा हुई है, अन्यथा नीचे के प्रदेश में नदी में बाढ आई है इस की उपपत्ति नही लगती; पुत्र ब्राह्मण है क्यों कि उस के माता-पिता ब्राह्मण होने से वह अन्यथा नही हो सकता इत्यादि अनुमानों में जो हेतु पक्ष का धर्म नही है वह भी साध्य का बोध कराता है। किन्तु शंकाकार का यह कथन ठीक नही है। जो पक्ष का धर्म नही है वह हेतु कल्पित होगा अतः वह साध्य का बोध कराये यह संभव नही है। ऐसा क्यों है इस प्रश्न का उत्तर है कि पक्ष में हेतु का अभाव है

तद्भावस्यैव कल्पकाभावत्वात् असिद्धत्वादिति यावत्। अथ पक्षादन्यत्र विद्यमानत्वात् गमकत्वमिति चेत् तर्हि सर्वं सर्वस्य गमकं स्यादित्यतिप्रसज्यते ॥

[२५. हेतुलक्षणोपसंहारः]

अथ निश्चितव्याप्तिकं सर्वं स्वव्यापकस्य सर्वस्य गमकमिति चेत् न चैतदत्रास्ति। कल्पकस्यास्य क्वापि व्याप्तिनिश्चयाभावात्। न तावत् सपक्षे तन्निश्चयः तस्य सपक्षाभावात्। अथ पक्षे एवास्य व्याप्तिनिश्चय इति चेन्न। अपक्षधर्मस्यास्य पक्षे अभावात् तत्र तन्निश्चयानुपपत्तेः। पक्षे तस्य सद्भावेऽपि तत्र कल्प्यस्य निश्चये तेन कल्पकस्य व्याप्तिनिश्चयायोगात् तत्र तन्निश्चये अर्थापत्तेः आनर्थक्यम् व्याप्तिनिश्चयात् पूर्वमेव पक्षे कल्प्यस्य निश्चितत्वात्। अनिश्चितव्याप्तिकस्यापक्षधर्मस्यापि गमकत्वे

इसी कारण वह साध्य का बोधक नही हो सकता – वह असिद्ध होता है। पक्ष से अन्यत्र हेतु रहेगा और साध्य का बोध करायेगा यह कहना भी संभव नही क्यों कि ऐसा कहने से सभी हेतु सभी साध्यों के बोधक हो जायेंगे; (धुंआ रसोईघर में होगा और अग्नि का बोध पर्वतपर होगा) यह अतिप्रसंग है।

हेतु के लक्षण का समारोप

जिस की व्याप्ति निश्चित है वह सब अपने व्यापक सब (पदार्थों) का बोध कराता है यह कहें तो वह बात भी यहां (जो पक्ष का धर्म नही है उस हेतु में) नही पाई जाती। कारण यह है कि इस कल्पित हेतु की व्याप्ति का निश्चय ही कहीं नही हो सकता। उस की व्याप्ति का निश्चय सपक्ष में नही हो सकता क्यों कि उस के कोई सपक्ष ही नही है (जिस का पक्ष में अस्तित्व हो उसी के बारे में सपक्ष और विपक्ष की कल्पना संभव है, जिस का पक्ष ही न हो उस का सपक्ष कैसे हो सकता है)। पक्ष में ही इस (हेतु) की व्याप्ति का निश्चय होता है यह कथन भी योग्य नही। यह हेतु पक्ष का धर्म ही नही है अतः पक्ष में उस का अभाव है इसलिए पक्ष में इस की व्याप्ति का निश्चय संभव नही हो सकता। (यहां एक वाक्य का अर्थ हमें ज्ञात नही हो सका)। जिस की व्याप्लि निश्चित नही तथा जो पक्ष का

काकस्य कार्ष्ण्याद् धवलः प्रासादः इत्यादेरपि गमकत्वं स्यात्। अथ विपक्षेऽसत्त्वात् व्याप्तिनिश्चय इति चेत् केवलव्यतिरेकानुमानं तत्, नार्थापत्तिः। तस्याप्यपक्षधर्मत्वे अगमकत्वमेव। पक्षे सपक्षेऽप्यविद्यमानो हेतुः स्वसाध्यं क्व प्रसाधयेत्, न क्वापि। तर्हि नदीपूरवृष्ट्यादीनां गम्यगमकभावः कथमिति चेत् वीतः नदीपूरः वृष्टिपूर्वकः विशिष्टपूरत्वात् संप्रतिपन्नपूरवत्, वीतः पुमान् ब्राह्मण एव ब्राह्मणमातापितृजन्यत्वात् संप्रतिपन्नब्राह्मणवत् इत्यादिकुशलप्रयोगादिति ब्रूमः। तस्मात् व्याप्तिमान् पक्षधर्म एव सम्यग् हेतुर्भवति ॥

[२६. अन्वयव्यतिरेकि अनुमानम्]

स हेतुः अन्वयव्यतिरेकी केवलान्वयी केवलव्यतिरेकी इति त्रिधा।

धर्म नही वह हेतु भी यदि साध्य का बोध करा सके तो 'महल सफेद है क्यों कि कौआ काला है' ऐसे हेतु भी साध्य के बोधक सिद्ध होंगे विपक्ष में अभाव होने से इस हेतु की व्याप्ति का निश्चय होता है यह कथन भी उचित नही क्यों कि ऐसी स्थिति में उसे केवलव्यतिरेकी अनुमान ही कहेंगे, व्याप्तिसमर्थक अर्थापत्ति नही। ऐसा हेतु भी (जिस का विपक्ष में अभाव है) यदि पक्ष का धर्म नही है तो वह साध्य का बोध नही करा सकता। जो हेतु पक्ष में और सपक्ष में भी न हो वह साध्य को कहां सिद्ध करेगा–अर्थात कहीं भी सिद्ध नही कर सकेगा। फिर नदी की बाढ से वृष्टि का बोध किस तरह होता है इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यहां कुशल व्यक्ति इस प्रकार अनुमान का प्रयोग करते हैं – यह नदी की बाढ वृष्टिपूर्वक होती है क्यों कि यह विशिष्ट बाढ है जैसे पहले देखी हुई बाढ (यहां नदी की बाढ इस पक्ष में वृष्टिपूर्वक होना यह साध्य है तथा विशिष्ट बाढ होना यह हेतु यहां पक्ष का ही धर्म है)। इसी प्रकार यह पुरुष ब्राह्मण है क्योंकि यह ब्राह्मण माता–पिता से उत्पन्न हुआ है जैसे पहले देखे हुए ब्राह्मण (यहां यह पुरुष इस पक्ष में ब्राह्मण माता–पिता से उत्पन्न होना यह हेतु विद्यमान है अतः उस से ब्राह्मण होना यह साध्य सिद्ध होता है)। इसलिए व्याप्ति से युक्त पक्ष का धर्म ही योग्य हेतु होता है।

अन्वयव्यतिरेकी अनुमान

हेतु के तीन प्रकार हैं – अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी तथा केवल-

सपक्षविपक्षसहितः अन्वयव्यतिरेकी। पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्वात्, यो यो धूमवान् स सर्वोऽप्यग्निमान् यथा महानसः, यो योऽग्निमान् न भवति स सर्वोऽपि धूमवान् न भवति यथा ह्रदः, धूमवांश्चायं पर्वतः तस्मात् अग्निमान् भवति इत्यादि ॥

[२७. केवलान्वयि अनुमानम्]

विपक्षरहितः सपक्षरहितः केवलान्वयी। वीतः सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनमनेकत्वात्, यद् यदनेकं तत् कस्यचिदेकज्ञानालम्बनं, यथा पञ्चाङ्गुलम्, अनेकश्चायं सदसद्वर्गः तस्मात् कस्यचिदेकज्ञानालम्बनमित्यादि। ननु केवलान्वयि न प्रमाणं विपक्षाद् व्यावृत्तिरहितत्वात् अनैकान्तिकवत् इति मीमांसकः प्रावोचीत्। तत्र विपक्षग्रहणव्यावृत्तिस्मरणयोरभावे विपक्षाद् व्यावृत्तिरहितत्वस्य ज्ञातुमशक्तेः अज्ञातासिद्धो

व्यतिरेकी। सपक्ष और विपक्ष दोनों से सहित हेतु अन्वयव्यतिरेकी होता है। जैसे – यह पर्वत अग्नियुक्त है क्यों कि यह धुंए से युक्त है, जो धुंए से युक्त होता है वह सब अग्नि से युक्त होता है, जैसे रसोईघर, जो अग्नि से युक्त नही होता वह धुंए से युक्त भी नही होता, जैसे सरोवर, और यह पर्वत धुंए से युक्त है, अतः यह अग्नि से युक्त है। (यहां धुंए से युक्त होना यह हेतु अन्वयव्यतिरेकी है क्यों कि इस में रसोईघर आदि सपक्ष हैं और सरोवर आदि विपक्ष हैं)।

केवलान्वयी अनुमान

जो हेतु सपक्ष से सहित किन्तु विपक्ष से रहित होता है उसे केवलान्वयी कहते हैं। उदा.– विचार का विषय सत् तथा असत् (भावरूप तथा अभावरूप) पदार्थों का समूह किसी एक के ज्ञान का विषय होता है क्यों कि वह अनेक है, जो अनेक होता है वह किसी एक के ज्ञान का विषय होता है, जैसे पांच अंगुलियां, ये सत् तथा असत् पदार्थ भी अनेक हैं, इसलिए वे किसी एक के ज्ञान के विषय होते हैं। (यहां अनेक होना यह हेतु सदसद्वर्ग इस पक्ष में है, पंचांगुल इस सपक्ष में है, किन्तु इस का कोई विपक्ष नही है क्यों कि संसार के जितने भी पदार्थ हैं उन सबका सदसद्वर्ग इस पक्ष में अन्तर्भाव हो जाता है, अतः यह हेतु केवलान्वयी है)। यहां

हेतुः स्यात्। विपक्षग्रहणसंभवे केवलान्वयित्वाभावात् कस्याप्रामाण्यं प्रसाध्येत, न कस्यापि। अपि च व्यावृत्तिर्नाम अभावः, रहितत्वमपि प्रतिषेध एव। तथा च प्राभाकरपक्षे अभावप्रतियोगिप्रतिषेधाभावात् स्वरूपासिद्धो हेत्वाभासः। विपक्षाद्व्यावृत्तिरहितत्वं नाम विपक्षस्वरूपमेव। तच्च केवलान्वयिनि नास्तीति स्वरूपासिद्धो हेतुः स्यात्। तस्मात् केवलान्वयि प्रमाणं व्याप्तिमत्पक्षधर्मत्वात् धूमानुमानवदिति स्थितम्॥

[२८. केवलव्यतिरेकि अनुमानम्]

सपक्षरहितः विपक्षसहितः केवलव्यतिरेकी। आत्मा चेतनः ज्ञात-

शंकाकार मीमांसक का प्रश्न है कि केवलान्वयी हेतु प्रमाण नही होता क्यों कि इस में विपक्ष में अभाव यह गुण नही है, अनैकान्तिक हेत्वाभास में भी विपक्ष में अभाव यह गुण नही होता इसीलिए वह हेत्वाभास होता है अतः इस केवलान्वयी हेतु को भी प्रमाण नही मान सकते। किन्तु इस आक्षेप में विपक्ष में अभाव न होना यह जो हेतु है यह अज्ञातासिद्ध है (इस का अस्तित्व सिद्ध नही हुआ है) क्यों कि इस केवलान्वयी हेतु में अमुक विपक्ष है इस तरह का ग्रहण तथा उस में इस हेतु का अभाव है इस प्रकार का स्मरण नही हो सकता इसलिए विपक्ष में अभाव न होने का ज्ञान ही नही हो सकता। यदि विपक्ष के अस्तित्व का ग्रहण हो सके तो यह हेतु केवलान्वयी ही नही रहेगा अतः अप्रमाण किसे सिद्ध करेंगे? प्राभाकर मीमांसकों के पक्ष में भी विपक्ष में अभाव न होना यह आक्षेप स्वरूपासिद्ध है (उस का स्वरूप सिद्ध नही है) क्यों कि उन के मतानुसार व्यावृत्ति का अर्थ अभाव है तथा रहित होने का अर्थ भी अभाव ही है। प्राभाकर मीमांसकों के मतानुसार विपक्ष में व्यावृत्ति के अभाव का अर्थ है विपक्ष का स्वरूप। और इस केवलान्वयी हेतु में विपक्ष ही नही है इसलिए विपक्ष में अभाव नही है यह कहना स्वरूपासिद्ध हो जाता है। इसलिए धुंए से अग्नि के अनुमान के समान ही केवलान्वयी हेतु भी प्रमाणभूत होता है क्यों कि वह व्याप्ति से युक्त तथा पक्ष का धर्म है यह निष्कर्ष स्थिर हुआ।

केवलव्यतिरेकी अनुमान

जिस हेतु में विपक्ष होता है किन्तु सपक्ष नही होता उसे केवलव्यति-

त्वात्, यो यः चेतनो न भवति स सर्वोऽपि ज्ञाता न भवति, यथा पटः, ज्ञाता चायमात्मा, तस्माच्चेतनो भवति इत्यादि। ननु केवलव्यतिरेकि न प्रमाणं सपक्षसत्त्वरहितत्वात् विरुद्धवत् इत्यपि मीमांसकः प्रायुङ्क्त। अत्र सपक्षग्रहणसत्त्वस्मरणयोरभावे सपक्षसत्त्वरहितत्वस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् अज्ञातासिद्धो हेतुः स्यात्। सपक्षग्रहणसंभवे केवलव्यतिरेकित्वाभावात् कस्याप्रामाण्यं प्रसाध्येत, न कस्यापि। प्राभाकरपक्षे सपक्षे सत्त्वरहितत्वं नाम सपक्षस्वरूपमात्रमेव। तदत्र केवलव्यतिरेकिणि नास्तीति स्वरूपासिद्धत्वं हेतोः स्यात्। ततः केवलव्यतिरेकि प्रमाणं व्याप्तिमत्पक्षधर्मत्वात् धूमानुमानवदिति स्थितम्॥

रेकी कहते हैं। उदा.– आत्मा चेतन है क्यों कि वह ज्ञाता है, जो चेतन नहीं होता वह ज्ञाता नहीं होता जैसे वस्त्र, आत्मा ज्ञाता है, अतः वह चेतन है। (इस अनुमान में आत्मा इस पक्ष में चेतन होना साध्य है तथा ज्ञाता होना हेतु है, इस में पट इत्यादि विपक्ष तो संभव है किन्तु सपक्ष संभवः नहीं है क्यों कि जितने भी ज्ञाता हैं वे सब आत्मा होने से पक्ष में ही समाविष्ट हो जाते हैं अतः यह हेतु केवलव्यतिरेकी है)। यहां भी मीमांसक शंकाकार प्रश्न करते हैं कि केवलव्यतिरेकी अनुमान प्रमाण नहीं होता क्यों कि इस में सपक्ष में हेतु का अस्तित्व होना यह गुण नहीं है। विरुद्ध हेत्वाभास में भी सपक्ष में अस्तित्व न होना यही दोष होता है और उसी से वह अप्रमाण होता है। मीमांसकों के इस आक्षेप में सपक्ष में अस्तित्व न होना यह हेतु अज्ञातासिद्ध है (उसका होना सिद्ध नहीं है) क्यो कि सपक्ष का अस्तित्व ग्रहण करना तथा उस में हेतु के अस्तित्व को स्मरण करना यहां संभव नहीं है (यहां सपक्ष ही नहीं है अतः सपक्ष में हेतु है या नहीं है यह कहना संभव नहीं है) यदि सपक्ष का ज्ञान संभव हो तो वह हेतु केवलव्यतिरेकी नहीं रहेगा, फिर अप्रमाण किसे सिद्ध करेंगे। प्राभाकर मीमांसकों के पक्ष में भी सपक्ष में अस्तित्व के अभाव का अर्थ सपक्ष का स्वरूप ही है। वह सपक्ष इस केवलव्यतिरेकी हेतु में है ही नहीं अतः सपक्ष में अस्तित्व नहीं यह कहना स्वरूपासिद्ध हो जाता है। इसलिए केवलव्यतिरेकी हेतु भी प्रमाणभूत होता है क्यों कि धुंए से अग्नि के अनुमान के समान ही यहां भी व्याप्ति से

[२९. अनुमानभेदत्रयम्]

तत् सर्वं त्रिविधं दृष्टानुमानं सामान्यतोदृष्टानुमानम् अदृष्टानुमानं चेति। अस्मदादिप्रत्यक्षगृहीतव्याप्तिकम् अस्मदादिप्रत्यक्षग्रहणयोग्यार्थानुमापकं दृष्टानुमानम्। पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्त्वात् महानसवत् इत्यादि। अस्मदादिप्रत्यक्षेण सामान्यतो गृहीतव्याप्तिकम् अतीन्द्रियार्थानुमापकं सामान्यतोदृष्टानुमानम्। रूपादिपरिच्छित्तिः करणजन्या क्रियात्वात्, या या क्रिया सा सा करणजन्या यथा घटक्रिया, क्रिया चेयं रूपादिपरिच्छित्तिः, तस्मात् करणजन्या इत्यादि। आगमेनैव निश्चितव्याप्तिकम्

युक्त होना तथा पक्ष का धर्म होना ये दोनों गुण हेतु में हैं यह मत स्थिर हुआ।

अनुमान के तीन भेद

उपर्युक्त सभी अनुमानों के तीन प्रकार होते हैं–दृष्ट अनुमान, सामान्यतोदृष्ट अनुमान तथा अदृष्ट अनुमान। जिस अनुमान की (आधारभूत) व्याप्ति का ज्ञान हम जैसे लोगों के प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा हुआ हो तथा हम जैसे लोगों के प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा जानने योग्य पदार्थ का ही जिस से बोध होता हो वह दृष्ट अनुमान कहलाता है जैसे– पर्वत अग्नियुक्त है क्यों कि यह धुंए से युक्त है जैसे रसोईघर (धुंए से युक्त होता है तब अग्नि से युक्त होता ही है) (यहां धुंआ और अग्नि इन की व्याप्ति प्रत्यक्ष से जानी गई है तथा अनुमान से जाना गया पदार्थ अग्नि भी प्रत्यक्ष से जाना जा सकता है अतः यह दृष्ट अनुमान है)। जिस की व्याप्ति का सामान्य रूप से हम जैसे लोगों के प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान होता है किन्तु जिस से ज्ञात होनेवाला पदार्थ अतीन्द्रिय (इन्द्रियप्रत्यक्ष से न जाना जाये) होता है उस अनुमान को सामान्यतोदृष्ट कहते हैं। जैसे–रूप आदि का ज्ञान साधनसे होता है क्यों कि वह क्रिया है, जो जो क्रिया होती है वह वह साधन से निष्पन्न होती है जैसे घट की क्रिया यह रूप आदि का ज्ञान भी क्रिया है अतः यह भी साधन से निष्पन्न होती है (यहां क्रिया और साधन से निष्पन्न होना इन की व्याप्ति सामान्यतः हमारे प्रत्यक्ष से ज्ञात होती है किन्तु इस अनुमान से बोधित होनेवाला पदार्थ – रूप आदि का ज्ञान साधन से निष्पन्न होता है – इन्द्रियप्रत्यक्ष से नहीं

अतीन्द्रियार्थानुमापकम् अदृष्टानुमानम्। मुक्तात्मा सकलक्लेशरहितः सकलकर्मरहितत्वात्, यो यः सकलक्लेशरहितो न भवति स सर्वः सकलकर्मरहितो न भवति यथा संसारी, सकलकर्मरहितश्चायं मुक्तात्मा, तस्मात् सकलक्लेशरहितः इत्यादि ॥

[१०. अनुमानाभासः]

व्याप्तिपक्षधर्मतारहितहेतोः साध्यसाधनम् अनुमानाभासः। तत्र पक्षधर्मरहितो हेतुरसिद्धः। व्याप्तिरहिता हेतवः विरुद्धानैकान्तिकानध्यवसितकालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाः। सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये प्रयुक्तो हेतुरकिंचित्करः। अकिंचित्करस्य व्याप्तिपक्षधर्मताराहि-

---

जाना जा सकता अतः यह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है)। जिस की व्याप्ति का निश्चय केवल आगम से ही होता हो तथा जिस से ज्ञात होनेवाला पदार्थ भी अतीन्द्रिय हो उस अनुमान को अदृष्ट कहते हैं। जैसे–मुक्त आत्मा सभी दुःखों से रहित होता है क्यों कि वह सभी कर्मों से रहित होता है, जो सभी कर्मों से रहित नही होता वह सभी दुःखों से रहित नही होता जैसे संसारी जीव, मुक्त आत्मा सभी कर्मों से रहित होता है, अतः वह सभी दुःखों से रहित होता है (यहां मुक्त आत्मा का सभी दुःखों से रहित होना यह विषय अतीन्द्रिय है तथा जो कर्मरहित होता है वह दुःखरहित होता है यह व्याप्ति भी प्रत्यक्ष से नही जानी जाती, इस का निश्चय केवल आगम से होता है अतः यह अदृष्ट अनुमान है)।

अनुमान के आभास

जो व्याप्ति से रहित है तथा पक्ष का धर्म नही है ऐसे हेतु से साध्य को सिद्ध करना यह अनुमान का आभास है। जो हेतु पक्ष का धर्म नही होता उसे असिद्ध कहते हैं। विरुद्ध, अनैकान्तिक, अनध्यवसित, कालात्ययापदिष्ट तथा प्रकरणसम ये हेतु व्याप्ति से रहित होते हैं। जो साध्य पहले ही सिद्ध हो उस के विषय में तथा जो प्रत्यक्ष आदि से बाधित हो उस के विषय में प्रयुक्त हेतु अकिंचित्कर कहलाता है। अकिंचित्कर हेतु व्याप्ति से रहित नही होता तथा पक्षधर्मत्वरहित भी नही होता फिर उसे (हेतु का) आभास कैसे कहा जाय ऐसा प्रश्न हो सकता है, उत्तर यह है कि उस का

-स्याभावस्तर्हि तस्याभासत्वं कौतस्कुतमिति चेत् प्रतिवाद्यसिद्धाप्रमादत्व-त्वात्। साध्यविकलादिदृष्टान्ताभासाश्च व्याप्तिरहिताः। तद् यथा। अनिश्चितपक्षवृत्तिः हेतुरसिद्धः। पक्षविपक्षयोरेव वर्तमानो हेतुः विरुद्धः। पक्षत्रयवृत्तिर्हेतुः अनैकान्तिकः। प्रतिवादिप्रसिद्धसाध्ये प्रयुक्तो हेतुरकिंचित्करः। अनिश्चितव्याप्तिकः पक्ष एव वर्तमानो हेतुः अनध्यवसितः। बाधितसाध्ये पक्षे प्रयुक्तो हेतुः कालात्ययापदिष्टः। स्वपरपक्षसिद्धावपि त्रिरूपो हेतुः प्रकरणसमः॥

[२१. असिद्धभेदाः]

तत्रासिद्धभेदाः। पक्षेऽविद्यमानो हेतुः स्वरूपासिद्धः, अनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात् प्रदीपवत्। भिन्नाधिकरणे प्रयुक्तो हेतुः व्यधिकरणासिद्धः,

---

प्रमादपूर्ण (दोषपूर्ण) न होना प्रतिपक्षी के लिए असिद्ध है (प्रतिपक्षी उस हेतु में दोष बतला सकता है अतः उसे हेतु का आभास कहा है)। साध्यविकल आदि दृष्टान्ताभास भी व्याप्ति से रहित होते हैं (इन का आगे वर्णन करेंगे)। (हेत्वाभासों के लक्षण) इस प्रकार हैं – जिस हेतु का पक्ष में अस्तित्व निश्चित नहीं हो वह असिद्ध होता है। जो हेतु पक्ष में तथा विपक्ष में ही हो (सपक्ष में न हो) वह विरुद्ध होता है। जो हेतु तीनों पक्षों में (पक्ष सपक्ष तथा विपक्ष में) हो वह अनैकान्तिक होता है। प्रतिवादी के लिए जो साध्य पहले ही सिद्ध होता है उस के विषय में प्रयुक्त हेतु अकिंचित्कर होता है। जो हेतु पक्ष में ही हो किन्तु जिस की व्याप्ति अनिश्चित हो वह अनध्यवसित होता है। जिस पक्ष में साध्य का अस्तित्व बाधित है उस के विषय में प्रयुक्त हेतु कालात्ययापदिष्ट होता है। जिस हेतु के तीनों रूप (पक्ष में अस्तित्व, सपक्ष में अस्तित्व, विपक्ष में अभाव) अपने पक्ष के तथा प्रतिपक्ष के – दोनों के सिद्ध करने में प्रयुक्त होते हैं वह प्रकरणसम होता है (इन सब हेत्वाभासों के उपभेद तथा उदाहरण अब क्रमशः बतायेंगे)।

असिद्ध हेत्वाभास के प्रकार

असिद्ध हेत्वाभास के भेद इस प्रकार हैं–जो हेतु पक्ष में विद्यमान न हो वह स्वरूपासिद्ध होता है, जैसे–शब्द अनित्य है क्यों कि वह चाक्षुष है (चाक्षुष होना यह हेतु शब्द इस पक्ष में विद्यमान नहीं है अतः यह स्वरूपासिद्ध है)।

पर्वतोऽग्निमान् महानसस्य धूमवत्त्वात् मठवत्। पक्षैकदेशे वर्तमानो हेतुः भागासिद्धः, अनित्यः शब्दः प्रयत्नजन्यत्वात् पटवत्। पक्षेऽविद्यमानविशेष्यो हेतुः विशेष्यासिद्धः, अनित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सति चाक्षुषत्वात्। पक्षेऽविद्यमानविशेषणो हेतुः विशेषणासिद्धः, अनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वे सति सामान्यवत्त्वात्। पक्षे अज्ञातो हेतुः अज्ञातासिद्धः, रागादिरहितः कपिलः उत्पन्नतत्त्वज्ञानत्वात्। संदिग्धासिद्धश्चायमेव। पक्षे संदिग्धविशेष्यो हेतुः संदिग्धविशेष्यासिद्धः, कपिलो रागादिमान् पुरुषत्वे सति अनुत्पन्नतत्त्वज्ञानत्वात्। पक्षे संदिग्धविशेषणो हेतुः संदिग्धविशे-

(पक्ष से) भिन्न स्थान में प्रयुक्त हेतु व्यधिकरणासिद्ध होता है, जैसे–पर्वत अग्नि से युक्त है क्यों कि रसोईघर धुंए से युक्त है जैसे मठ (यहां धुंए से युक्त होना यह हेतु पर्वत इस पक्ष में न बतला कर उस से भिन्न स्थान रसोईघर में बतलाया है अतः यह व्यधिकरणासिद्ध है)। पक्ष के एक हिस्से में जो विद्यमान हो (सर्वत्र न हो) उस हेतु को भागासिद्ध कहते हैं, जैसे –शब्द अनित्य है क्यों कि वह प्रयत्न से उत्पन्न होता है जैसे वस्त्र (यहां प्रयत्न से उत्पन्न होना यह हेतु शब्द इस पक्ष के एक हिस्से में विद्यमान है, सर्वत्र नहीं, क्यों कि अक्षरात्मक शब्द तो प्रयत्न से उत्पन्न होता है और मेघगर्जनादि शब्द बिना प्रयत्न के भी उत्पन्न होता है अतः यह हेतु भागासिद्ध है)। जिस का विशेष्य पक्ष में विद्यमान न हो वह हेतु विशेष्यासिद्ध होता है, जैसे – शब्द अनित्य है क्यों कि वह सामान्ययुक्त होते हुए चाक्षुष होता है (यहां सामान्ययुक्त होते हुए चाक्षुष होना इस हेतु का विशेष्य अर्थात चाक्षुष होना शब्द इस पक्ष मे नहीं पाया जाता अतः यह हेतु विशेष्यासिद्ध है)। जिस हेतु का विशेषण पक्षमें विद्यमान न हो वह विशेषणासिद्ध होता है, जैसे– शब्द अनित्य है क्यों कि वह चाक्षुष होते हुए सामान्ययुक्त है (यहां चाक्षुष होते हुए सामान्ययुक्त होना इस हेतु का विशेषण अर्थात चाक्षुष होना शब्द इस पक्ष में नहीं पाया जाता अतः वह हेतु विशेषणासिद्ध है)। पक्ष में जिस हेतु के अस्तित्व का ज्ञान न होता हो, वह अज्ञाता सिद्ध होता है, जैसे– कपिल राग आदि से रहित हैं क्यों कि उन्हें तत्त्वज्ञान उत्पन्न हुआ है (यहां कपिल इस पक्ष में तत्त्वज्ञान उत्पन्न होना इस हेतु का अस्तित्व जाना नहीं गया

णासिद्धः, कपिलो रागादिमान् अनुत्पन्नतत्त्वज्ञानत्वे सति पुरुषत्वात्। निरर्थविशेष्यवान् हेतुः व्यर्थविशेष्यासिद्धः, अनित्यः शब्दः कृतकत्वे सति सामान्यवत्त्वात्। निष्प्रयोजनविशेषणवान् हेतुः व्यर्थविशेषणासिद्धः, अनित्यः शब्दः सामान्यवत्वे सति कृतकत्वात्। प्रमाणेनासिद्धे पक्षे प्रयुक्तो हेतुः आश्रयासिद्धः, अस्ति प्रधानं विश्वपरिणामित्वात्। एतत् नाद्रियते जैनैः, पक्षस्य विकल्पसिद्धत्वप्रतिपादनात् ॥

है अतः यह अज्ञातासिद्ध हेतु है)। इसी को संदिग्धासिद्ध भी कहते हैं। जिस का अस्तित्व विशेष्य में है या नही इस में सन्देह हो वह हेतु संदिग्धविशेष्यासिद्ध होता है। जैसे–कपिल राग आदि से युक्त है क्यों कि पुरुष होते हुए उसे तत्त्वज्ञान उत्पन्न नही हुआ है (यहां तत्त्वज्ञान उत्पन्न न होना यह विशेष्य-कपिल इस पक्ष में है या नही यह संदिग्ध है अतः यह संदिग्धविशेष्यासिद्ध हेतु हुआ)। जिस के विशेषण का अस्तित्व में पक्ष में संदिग्ध हो वह हेतु संदिग्धविशेषणासिद्ध होता है। जैसे–कपिल राग आदि से युक्त है क्यों कि तत्त्वज्ञान उत्पन्न न होते हुए वह पुरुष है (यहा तत्त्वज्ञान उत्पन्न न होना यह विशेषण कपिल इस पक्ष में संदिग्ध है अतः यह हेतु संदिग्धविशेषणासिद्ध हुआ)। जिस हेतु में विशेष्य निरर्थक हो वह व्यर्थविशेष्यासिद्ध होता है। जैसे– शब्द अनित्य है क्यों कि वह कृतक होते हुए सामान्य से युक्त है (यहां सामान्य से युक्त होना यह विशेष्य निरुपयोगी है अतः यह हेतु व्यर्थ विशेष्यासिद्ध हुआ)। जिस हेतु का विशेषण निरुपयोगी हो वह व्यर्थ विशेषणासिद्ध होता है। जैसे–शब्द अनित्य है क्यों कि वह सामान्ययुक्त होते हुए कृतक है (यहां सामान्ययुक्त होते हुए यह विशेषण निरुपयोगी है अतः यह हेतु व्यर्थ विशेषणासिद्ध हुआ)। जो पक्ष प्रमाण से सिद्ध न हुआ हो उस के विषय में प्रयुक्त हेतु आश्रयासिद्ध होता है। जैसे–प्रधान (प्रकृति) का अस्तित्व है क्यों कि यह विश्व उसी का परिणाम है (विकसित स्वरूप है) (यहां प्रकृति इस पक्ष का अस्तित्व प्रमाणसिद्ध नही है अतः इस के बारे में सभी हेतु आश्रयासिद्ध होंगे) जैनों द्वारा इस को (आश्रयासिद्ध हेत्वाभास को) मान्यता नही दी जाती क्यों कि वे पक्ष को विकल्पसिद्ध भी मानते हैं (जिस का अस्तित्व है या नही इस के विषय में सन्देह हो वह पक्ष विकल्पसिद्ध होता है–उस के विषय में भी अनुमान हो सकता है ऐसा जैनों का मत है)।

[१२. सपक्षसद्भावे विरुद्धभेदाः]

साध्यविपरीते निश्चितव्याप्तिको हेतुः विरुद्धः। तद्भेदाः सति सपक्षे चत्वारो विरुद्धाः। पक्षविपक्षव्यापको यथा – नित्यः शब्दः कार्यत्वात्। पक्षरूपे शब्दे कार्यत्वमस्ति, विपक्षरूपे अनित्ये घटपटादौ च सर्वत्रास्ति कार्यत्वम्। विपक्षैकदेशवृत्तिः पक्षव्यापको यथा—नित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्। विपक्षरूपे घटादौ बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वमस्ति, विपक्षरूपे सुखादौ तन्नास्त्येव, पक्षीकृतेषु शब्देषु

सपक्ष के रहते हुए विरुद्ध हेत्वाभास के प्रकार

जिस की व्याप्ति साध्य के विरुद्ध पक्ष में निश्चित हो उस हेतु को विरुद्ध कहते हैं। सपक्ष के रहते हुए उस विरुद्ध हेत्वाभास के चार प्रकार होते हैं। पक्ष तथा विपक्ष में व्यापक विरुद्ध हेत्वाभास का उदाहरण- शब्द नित्य है क्यों कि वह कार्य है। यहां शब्द इस पक्ष में कार्य होना (यह हेतु) है, विपक्ष अर्थात घट पट इत्यादि अनित्य पदार्थों में भी सर्वत्र कार्य होना (यह हेतु) विद्यमान है (अतः यह हेतु पक्षविपक्षव्यापी विरुद्ध हेत्वाभास है) पक्ष में व्यापक तथा विपक्ष के एक भाग में रहनेवाले विरुद्ध हेत्वाभास का उदाहरण–शब्द नित्य है क्यों कि सामान्य से युक्त होते हुए वह हम जैसे लोगों को बाह्य इन्द्रियों से ज्ञात होता है। यहां घट इत्यादि विपक्ष में (अनित्य पदार्थों में) बाह्य इन्द्रियों से ज्ञात होना (यह हेतु) है, सुख इत्यादि विपक्ष में (अनित्य पदार्थों में) वह नही है (वे बाह्य इन्द्रियों से ज्ञात नही होते) तथा शब्द इस पक्ष में सर्वत्र बाह्य इन्द्रियों से ज्ञात होना (यह हेतु) विद्यमान है (अतः यह विपक्षैकदेशवृत्ति पक्षव्यापक विरुद्ध हेत्वाभास है)। पक्ष तथा विपक्ष दोनों के एक भाग में रहनेवाले विरुद्ध हेत्वाभास का उदाहरण – शब्द नित्य है क्यों कि वह प्रयत्न से उत्पन्न होता है। यहां पक्ष में जो शब्द तालु, होंठ आदि की हलचल से उत्पन्न होते हैं उन में तो प्रयत्नजनित होना यह हेतु है किन्तु नदी की आवाज, मेघगर्जना आदि शब्दों में वह हेतु नही है (वे शब्द प्रयत्नजनित नही हैं), घट इत्यादि विपक्ष में वह (प्रयत्नजनित होना) विद्यमान है किन्तु प्रागभाव जैसे विपक्ष में वह नही है (प्रागभाव प्रयत्नजनित नही होता, किसी वस्तु के उत्पन्न होने से पहले उस का जो

सर्वत्र बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वमस्ति। पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा–नित्यः शब्दः प्रयत्नजन्यत्वात्। पक्षीकृते ताल्वोष्ठपुटव्यापारजनिते शब्दे प्रयत्नजन्यत्वमस्ति, नदीघोषमेघगर्जनादौ तन्नास्ति, विपक्षरूपे घटादौ तद् विद्यते, प्रागभावे तन्नास्ति। पक्षैकदेशवृत्तिः विपक्षव्यापको यथा—नित्या पृथिवी कृतकत्वात्। पक्षरूपे पृथिव्यादौ कृतकत्वमस्ति, पृथ्वीगततत्स्वरूपपरमाणुषु तदपि नास्ति, विपक्षरूपे अनित्ये घटपटादौ सर्वत्र कृतकत्वं व्याप्तमस्ति ॥

[३३. सपक्षाभावे विरुद्धभेदाः]

असति सपक्षे चत्वारो विरुद्धाः। पक्षविपक्षव्यापको यथा—आकाशविशेषगुणः शब्दः प्रमेयत्वात्। पक्षीकृते शब्दे सर्वत्र प्रमेयत्वमस्ति। शब्दं विहायान्यपदार्थाः आकाशविशेषगुणा न भवन्ति अत एव

अभाव होता है उसे प्रागभाव कहते हैं वह स्वाभाविक होता है प्रयत्ननिर्मित नही) (इस प्रकार यह हेतु पक्षविपक्षैकदेशव्यापी विरुद्ध हेत्वाभास है)। पक्ष के एक भाग में रहनेवाला और विपक्ष में व्यापक विरुद्ध हेत्वाभास इस प्रकार होता है –पृथिवी नित्य है क्यो कि वह कृतक है। यहां पृथिवी इस पक्ष में कृतक होना (यह हेतु) है, किन्तु पृथ्वी में समाविष्ट उस के स्वरूप के परमाणुओं में वह (कृतक होना) नही है (न्यायमत के अनुसार पृथ्वी आदि के परमाणु नित्य हैं, वे किसी के द्वारा बनाये नही जाते, उन परमाणुओं से ईश्वर पृथ्वी आदि का निर्मांण करता है, अतः पृथ्वी कृतक है किन्तु पृथ्वी– परमाणु कृतक नही हैं), घट पट इत्यादि विपक्ष में (अनित्य पदार्थों में) सर्वत्र कृतक होना (यह हेतु) व्याप्त है (अतः यह पक्षैकदेशवृत्ति-विपक्षव्यापक विरुद्ध हेत्वाभास है)।

सपक्ष के अभाव में विरुद्ध हेत्वाभास के चार प्रकार–

सपक्ष न हो तो विरुद्ध हेत्वाभास के चार प्रकार होते हैं। पक्ष और विपक्ष में व्यापक विरुद्ध का उदाहरण–शब्द आकाश का विशेष गुण है क्यों कि वह प्रमेय है। यहां प्रमेय होना यह हेतु शब्द इस पक्ष में सर्वत्र व्याप्त है, शब्द को छोड अन्य पदार्थ आकाश के विशेष गुण नही होते अतः वे सब विपक्ष हैं, उस घट पट आदि विपक्ष में सर्वत्र प्रमेय होना यह हेतु है

ते विपक्षाः। विपक्षरूपेषु तेषु घटपटादिषु सर्वत्र प्रमेयत्वमस्ति। पक्ष-विपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा-आकाशविशेषगुणः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्। पक्षतां प्रपन्ने ताल्वोष्ठपुटव्यापारघटिते शब्दे प्रयत्नानन्तरीयकत्वमस्ति, पर्जन्यगर्जनादिशब्दे नास्ति। विपक्षरूपेषु घटपटादिषु सोऽयं हेतुरस्ति। प्रागभावादौ स न संभाव्यते। पक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा— आकाशविशेषगुणः शब्दः अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्। पक्षीकृतेषु शब्देषु हेतुः सर्वत्रास्ति, विपक्षरूपे घटपटादावपि हेतुरयं समस्ति, सुखादौ हेतुरयं न विद्यते। विपक्षव्यापकः पक्षैकदेशवृत्तिः यथा— आकाशविशेषगुणः शब्दः अपदात्मकत्वात्। विपक्षरूपेषु घटपटादिषु

(अतः यह पक्षविपक्षव्यापी विरुद्ध हेत्वाभास है)। पक्ष और विपक्ष के कुछ भाग में व्यापक विरुद्ध का उदाहरण- शब्द आकाश का विशेष गुण है क्यों कि वह प्रयत्न से उत्पन्न होता है। यहां पक्ष में समाविष्ट शब्दों में जो तालु, होंठ आदि की क्रिया से उत्पन्न होते हैं उन शब्दों में प्रयत्न से उत्पन्न होना यह हेतु है, किन्तु मेघगर्जना आदि शब्दों में यह हेतु नही है (वे शब्द प्रयत्न-जन्य नही होते); तथा घट, पट आदि विपक्षों में यह हेतु है किन्तु प्रागभाव आदि में नही है प्रागभाव आदि प्रयत्नजन्य नही होते) (अतः यह पक्ष और विपक्ष दोनों के एक भाग में रहनेवाला विरुद्ध हेत्वाभास है)। पक्ष में व्यापक और विपक्ष के एक भाग में रहनेवाले विरुद्ध का उदाहरण – शब्द आकाश का विशेष गुण है क्यों कि वह बाह्य इन्द्रियों से ज्ञात होता है। यहां शब्द इस पक्ष में बाह्य इन्द्रियों से ज्ञात होना यह हेतु सर्वत्र व्याप्त है, घट पट आदि विपक्ष में भी यह हेतु है किन्तु सुखदुःख आदि विपक्ष में यह हेतु नही हैं (वे बाह्य इन्द्रियों से ज्ञात नही होते) (अतः यह पक्षव्यापी विपक्षैकदेशवृत्ति विरुद्ध हेत्वाभास है)। विपक्ष में व्यापक तथा पक्ष के एक भाग में रहनेवाले विरुद्ध का उदाहरण– शब्द आकाश का विशेष गुण है क्यों कि वह पदरूप नही है। यहां घट पट आदि विपक्ष में सर्वत्र पदरूप न होना यह हेतु व्याप्त है, पक्ष में समाविष्ट नदी का ध्वनि, मेघगर्जना आदि शब्दों में भी यह हेतु है (वे शब्द पदरूप नही होते) किन्तु तालु, होंठ आदि की क्रिया से उत्पन्न शब्दों में यह हेतु नही है (वे शब्द पदरूप

अपदात्मकत्वं सर्वत्र व्याप्तमस्ति, पक्षरूपे नदीघोषजलधरनिनदादौ च अपदात्मकत्वं विद्यते, ताल्वोष्ठपुटव्यापारजनिते शब्दे नास्ति। ननु पक्षैकदेशवर्तिनां भागासिद्धत्वेन असिद्धभेदत्वात् तेषां किमर्थमत्र प्रयोग इति चेत् केषांचित् हेतूनामुभयदोषसद्भावप्रदर्शनार्थम् ॥

[२४. अनैकान्तिकभेदाः पक्षव्यापकाः]

विपक्षेऽपि वृत्तिमान् हेतुरनैकान्तिकः। तद्भेदाः। पक्षत्रयव्यापको यथा—अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्। पक्षरूपे शब्दे सर्वत्र प्रमेयत्वमस्ति, सपक्षे घटपटादौ चास्ति, तथा नित्यरूपे विपक्षे आकाशादौ च प्रमेयत्वं सर्वत्र व्याप्तम्। पक्षव्यापकः सपक्षविपक्षैकदेशवृत्तिः यथा—अनित्यः शब्दः अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्। पक्षरूपे शब्दे अस्मदादिप्रत्यक्षत्वं सर्वत्र व्याप्तमस्ति, अनित्यरूपे सपक्षे घटपटादौ अस्ति, अनित्यरूपे

होते हैं) (अतः यह विपक्षव्यापी पक्षैकदेशवृत्ति विरुद्ध हेत्वाभास है)। यहां प्रश्न होता है कि जो हेतु पक्ष के एक भाग में ही होता है (अन्य भागों में नहीं होता) वह भागासिद्ध होता है, वह असिद्ध हेत्वाभास का प्रकार है, फिर यहां उस का प्रयोग क्यों किया है। उत्तर यह है कि कुछ हेतुओं में दोनों दोष (असिद्ध होना और विरुद्ध होना) होते हैं यह बतलाने के लिए (ऐसे उदाहरण दिये हैं)।

पक्ष में व्यापक अनैकान्तिक हेत्वाभास

जो हेतु विपक्ष में भी विद्यमान होता है उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। उस के प्रकारों के उदाहरण इस प्रकार हैं। तीनों पक्षों में (पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष में) व्याप्त होनेवाले अनैकान्तिक का उदाहरण-शब्द अनित्य है क्यों कि वह प्रमेय है। यहां शब्द इस पक्ष में सर्वत्र प्रमेय होना यह हेतु विद्यमान है, घट पट इत्यादि सपक्ष में भी यह विद्यमान है तथा आकाश इत्यादि जो नित्य हैं उन विपक्ष के पदार्थों में भी प्रमेय होना सर्वत्र व्याप्त है। पक्ष में व्यापक तथा सपक्ष और विपक्ष के एक भाग में रहनेवाले अनैकान्तिक का उदाहरण -शब्द अनित्य है क्यों कि वह हम जैसे लोगों के बाह्य इन्द्रियों द्वारा ज्ञात होता है। यहां शब्द इस पक्ष में हम जैसे लोगों को प्रत्यक्ष ज्ञात

सपक्षे सुखादौ नास्ति, नित्यविपक्षरूपायां पृथिव्याम् अस्मदादिप्रत्यक्षत्वमस्ति, तद्गतपरमाणुषु नास्ति। पक्षसपक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा—गौरयं विषाणित्वात्। अयमिति पुरोवर्तिनि पक्षे विषाणित्वं व्याप्तमस्ति, तथा सपक्षरूपेषु अन्यगोषु च विषाणित्वमस्ति, गवां विपक्षरूपे महिषादौ च विषाणित्वं विद्यते, तेषां विपक्षरूपे खरतुरगादौ विषाणित्वं न प्रकाशते। पक्षविपक्षव्यापकः सपक्षैकदेशवृत्तिः यथा—नायं गौः विषाणित्वात्। अयमिति पुरोभागिपक्षे विषाणित्वं व्याप्तमभूत्। गौर्न भवति महिषीत्यस्य विपक्षो गौर्भवतीति तत्रापि विषाणित्वं विद्यते। गौर्न भवतीत्यस्य सपक्षो महिष्यादिः तेषु च विषाणित्वं विद्यते, खरतुरगादौ नास्ति॥

होना यह हेतु सर्वत्र व्याप्त है, सपक्ष में घट पट इत्यादि अनित्य पदार्थों में वह है किन्तु सपक्ष के ही सुख इत्यादि अनित्य वस्तुओं में यह हेतु नही है विपक्ष में नित्य पृथ्वी में हम जैसों को प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात होना यह हेतु है, किन्तु उसी पृथ्वी के परमाणुओं में यह हेतु नही हैं। पक्ष और सपक्ष में व्यापक तथा विपक्ष के एक भाग में रहनेवाले अनैकान्तिक का उदाहरण – यह बैल है क्यों कि इसे सींग हैं। यह इस शब्द द्वारा वर्णित जो सामने स्थित है उस प्राणी में अर्थात पक्ष में सींग होना यह हेतु है, जो सपक्ष हैं उन दूसरे बैलों में भी यह सींग होना विद्यमान है, बैलों के लिए विपक्ष ऐसे भैंसे आदि में भी सींग होना यह हेतु है किन्तु उसी विपक्ष के गधे, घोडे आदि प्राणियों में यह हेतु नही है। पक्ष और विपक्ष में व्यापक तथा सपक्ष के एक भाग में रहनेवाले अनैकान्तिक का उदाहरण–यह बैल नही है क्यों कि इसे सींग हैं। यहां यह इस शब्द द्वारा वर्णित आगे खडे हुए प्राणी अर्थात पक्ष में सींग होना यह हेतु व्याप्त है, जो बैल नही है उस भैंस का विपक्ष बैल यही होगा, उस विपक्ष में भी सींग होना यह हेतु है, भैंस आदि सपक्ष–जो बैल नही हैं उस में भी यह हेतु (सींग होना) विद्यमान है, किन्तु सपक्ष में ही समाविष्ट (जो बैल नहीं है ऐसे) गधे, घोडे आदि में यह हेतु नही है।

[३५. अनैकान्तिकभेदाः पक्षैकदेशवर्तिनः]

पक्षत्रयैकदेशवृत्तिः यथा—अनित्या पृथिवी अस्मदादिबाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्। पृथिव्यां पक्षरूपायाम् अस्मदादिप्रत्यक्षत्वमस्ति, तद्गतपरमाणुषु नास्ति। सपक्षरूपेऽनित्ये घटपटादौ अस्मदादिप्रत्यक्षत्वमस्ति न सुखादौ। नित्यरूपे विपक्षे प्रध्वंसाभावे अस्मदादिप्रत्यक्षत्वं विद्यते, कालात्माकाशादिषु नास्ति। पक्षसपक्षैकदेशवृत्तिः विपक्षव्यापको यथा-द्रव्याणि दिक्कालमनांसि अमूर्तत्वात्। पक्षरूपे दिक्काले अमूर्तत्वमस्ति, मनसि नास्ति। सपक्षे आत्माकाशेषु विद्यते, द्रव्यरूपेषु घटादिषु अमूर्तत्वं नास्ति। अद्रव्यरूपे प्रागभावप्रध्वंसाभावेतरेतराभावात्यन्ताभावे अभावचतुष्टये अमूर्तत्वं सर्वत्र व्याप्तम्। पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षव्यापको-यथा—न द्रव्याणि दिक्कालमनांसि अमूर्तत्वात्। पक्षरूपे दिक्काले

पक्ष के एक भाग में रहनेवाले अनैकान्तिक हेत्वाभास

तीनों पक्षों के (पक्ष सपक्ष तथा विपक्ष के) एक भाग में रहनेवाले अनैकान्तिक का उदाहरण—पृथ्वी अनित्य है क्यों कि वह हम जैसे लोगों के बाह्य इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष जानी जाती है। यहा पृथ्वी इस पक्ष में हम जैसे लोगों को प्रत्यक्ष ज्ञात होना यह हेतु है किन्तु इसी पक्ष में अन्तर्भूत पृथ्वी के परमाणुओं में यह हेतु नही है। सपक्ष में जो अनित्य घटपट आदि हैं उन में हमारे जैसे लोगों द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होना यह हेतु है किन्तु सपक्ष के ही सुख आदि में यह हेतु नही है। विपक्ष में जो प्रध्वंसाभाव आदि नित्य हैं उन में यह हेतु अर्थात हम जैसे लोगों द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञात होना विद्यमान है किन्तु काल, आत्मा, आकाश आदि नित्य पदार्थों में यह हेतु नही है। पक्ष और सपक्ष के एकभाग में तथा विपक्ष में सर्वत्र रहनेवाले अनैकान्तिक का उदाहरण—दिशा, काल और मन द्रव्य हैं क्यों कि वे अमूर्त हैं। यहां पक्ष में शामिल दिशा और काल में अमूर्त होना यह हेतु है किन्तु मन में यह हेतु नही है। आत्मा, आकाश आदि सपक्ष में यह हेतु (अमूर्त होना) है किन्तु घट आदि जो द्रव्य हैं (अत एव सपक्ष हैं) उन में यह हेतु नही है। (विपक्ष में अर्थात) जो द्रव्य नहीं हैं उन चार अभावों में – प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव एवं अत्यन्ताभाव में – यह हेतु अर्थात अमूर्त होना सर्वत्र व्याप्त है। पक्ष और विपक्ष के एक भाग में तथा सपक्ष में सर्वत्र

अमूर्तत्वमस्ति, मनसि नास्ति। विपक्षे द्रव्यरूपे आत्माकाशेऽमूर्तत्वमस्ति, घटपटादौ नास्ति। सपक्षे अद्रव्यरूपेषु अभावचतुष्टयेषु अमूर्तत्वं सर्वत्र व्याप्तम्। सपक्षविपक्षव्यापकः पक्षैकदेशवृत्तिः यथा—न द्रव्याणि दिक्कालात्माकाशमनांसि आकाशविशेषगुणरहितत्वात्। सपक्षे अद्रव्यरूपे अभावचतुष्टये आकाशविशेषगुणरहितत्वं सर्वत्र व्यापकम्। विपक्षे द्रव्यरूपेषु घटपटादिषु च शब्दगुणरहितत्वं सर्वत्र व्याप्तम्। पक्षीकृतेषु सर्वेषु दिक्कालात्ममनःसु आकाशविशेषगुणरहितत्वमस्ति, आकाशे तन्नास्ति॥

[३६. अकिंचित्करः]

सिद्धे साध्यं हेतुर्न किंचित् करोतीति अकिंचित्करः। तैजसः प्रदीपः उष्णस्पर्शवत्त्वात् पावकवत्।

रहनेवाले अनैकान्तिक का उदाहरण – दिशा, काल और मन द्रव्य नही हैं क्यों कि वे अमूर्त हैं। यहां पक्ष मे शामिल दिशा और काल में अमूर्त होना यह हेतु है किन्तु मन में नहीं है। जो द्रव्य हैं उन में अर्थात विपक्ष में –घटपट आदि में यह हेतु नहीं है, आत्मा, आकाश आदि में यह अमूर्त होना विद्यमान है। जो द्रव्य नही हैं ऐसे चार प्रकार के अभावों में अर्थात सपक्ष में अमूर्त होना यह हेतु सर्वत्र व्याप्त है। सपक्ष और विपक्ष में सर्वत्र तथा पक्ष के एक भाग में रहनेवाले अनैकान्तिक का उदाहरण – दिशा, काल, आत्मा, आकाश, मन ये द्रव्य नहीं हैं क्यो कि ये आकाश के विशेष गुण से रहित हैं। यहां जो द्रव्य नही हैं ऐसे चार अभावों में अर्थात सपक्ष में हेतु अर्थात आकाश के विशेष गुण से रहित होना सर्वत्र व्याप्त है। विपक्ष में जो द्रव्य हैं उन घट पट आदि में भी यह हेतु अर्थात शब्द गुण से रहित होना सर्वत्र व्याप्त है। पक्ष में शामिल दिशा, आत्मा, काल मन इन में यह हेतु है किन्तु आकाश मे यह हेतु नही है।

अकिंचित्कर हेत्वाभास

जहां साध्य पहले ही सिद्ध हो वहां हेतु कुछ भी नहीं करता अतः उसे अकिंचित्कर कहते हैं। जैसे – दीपक तेज से बना है क्यों कि वह अग्नि के समान उष्ण स्पर्श से युक्त है (यहां दीपक का तैजस होना पहले ही सिद्ध है अतः उस के लिए उष्णस्पर्शयुक्त होना आदि हेतु व्यर्थ हैं – इन्हें अकिंचित्कर कहना चाहिए)।

[२७. अनध्यवसितः]

अनध्यवसितभेदास्तु – अविद्यमानसपक्षविपक्षः पक्षव्यापको यथा– सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्। क्षणिकाक्षणिकयोः सपक्षविपक्षयोः सर्वमित्यत्रैव अन्तर्भावात् सत्त्वादित्यस्य हेतोः न तयोः प्रवृत्तिः। सर्वेषु आकाशघट-पटादिषु पदार्थेषु सत्त्वादितीदं हेतुत्वं सर्वत्र व्याप्तमस्ति। अविद्यमानस-पक्षविपक्षः पक्षैकदेशवृत्तिः यथा – सर्वमनित्यं कार्यत्वात्। अत्रापि सपक्षविपक्षयोः अनित्यनित्ययोः सर्वमित्यत्रैव अभेददर्शनात् न कार्यत्वस्य पृथक् प्रवृत्तिः। अत एव पक्षे क्वचित् घटपटादौ कार्यत्वमस्ति आत्मादिषु नास्ति। विद्यमानसपक्षविपक्षः पक्षव्यापको यथा – अनित्यः शब्दः आकाशविशेषगुणत्वात्। सपक्षविपक्षरूपेषु घटपटात्मकालेषु प्राग-भावोऽनित्यः सपक्षे प्रध्वंसाभावः विपक्षे सर्वत्र आकाशविशेषगुणाभावः॥ स्वीकृते शब्दे सर्वत्र आकाशविशेषणगुणत्वं व्याप्तं समस्ति। विद्यमानस-

---

अनध्यवसित हेत्वाभास

इस के प्रकार निम्नलिखित हैं। पक्ष में व्याप्त किन्तु सपक्ष तथा विपक्ष से रहित अनध्यवसित का उदाहरण – सब पदार्थ क्षणिक हैं क्यों कि उन का अस्तित्व है। यहां जो क्षणिक हैं वे पदार्थ सपक्ष होंगे तथा जो क्षणिक नही हैं वे विपक्ष होंगे किन्तु इन दोनों का सब पदार्थ इस पक्ष में ही अन्तर्भाव हो जाता है अतः अस्तित्व होना यह हेतु सपक्ष या विपक्ष में प्रवृत्त नही हो सकता। आकाश, घट, पट आदि जितने पदार्थ हैं उन सब में अस्तित्व होना यह हेतु सर्वत्र व्याप्त है। जिस में सपक्ष और विपक्ष नही हैं तथा जो पक्ष के एक भाग में है ऐसे अनध्यवसित का उदाहरण – सब पदार्थ अनित्य हैं क्यों कि वे कार्य हैं। यहां भी अनित्य पदार्थ सपक्ष होंगे तथा नित्य पदार्थ विपक्ष होंगे किन्तु इन दोनों का सब पदार्थ इस पक्ष में ही अन्तर्भाव होने से कार्य होना यह हेतु अलग से सपक्ष या विपक्ष में प्रवृत्त नही हो सकता। यहां पक्ष में कहीं कहीं घट, पट आदि में कार्य होना यह हेतु है, आत्मा आदि पदार्थों में यह हेतु नही है। पक्ष में व्यापक तथा सपक्ष और विपक्ष से युक्त अनध्यवसित का उदाहरण – शब्द अनित्य है क्यों कि वह आकाश का विशेष गुण है। यहां घट, पट आदि सपक्ष हैं,

पक्षविपक्षः पक्षैकदेशवृत्तिः यथा – सर्वं द्रव्यमनित्यं क्रियावत्त्वात् । सपक्षविपक्षरूपयोः प्रागभावप्रध्वंसाभावयोः सतोरपि तत्र क्रियावत्त्वादिति हेतोरप्रवृत्तिः। पक्षरूपेषु घटपटादिषु क्रियावत्त्वमस्ति, आकाशादिषु नास्ति। अविद्यमानविपक्षः विद्यमानसपक्षः पक्षव्यापको यथा – सर्वं कार्यं नित्यम् उत्पत्तिधर्मकत्वात् । सर्वमित्यस्य विपक्षाभावः । सपक्षस्य प्रध्वंसाभावस्य विद्यमानत्वेऽपि हेतोरुत्पत्तिधर्मकत्वस्याप्रवृत्तिः। सर्वमिति पक्षीकृते घटपटादौ उत्पत्तिधर्मकत्व व्याप्तमस्ति। अविद्यमानविपक्षः विद्यमानसपक्षः पक्षैकदेशवृत्तिर्यथा – सर्वं कार्यं नित्यं सावयवत्वात् । पूर्ववत् सर्वमित्यस्य विपक्षाभावः। सपक्षे प्रध्वंसाभावे सत्यपि सावयवत्वाभावः

आत्मा, काल आदि विपक्ष हैं, इन दोनों में आकाश का विशेष गुण होना यह हेतु नही है। इसी प्रकार सपक्ष में शामिल प्रागभाव अनित्य होता है उस में तथा विपक्ष में शामिल प्रध्वंसाभाव नित्य होता है उस में भी यह हेतु नही है। (पक्ष के रूप में) स्वीकृत शब्द में सर्वत्र आकाश का विशेष गुण होना यह हेतु व्याप्त है। सपक्ष और विपक्ष के होते हुए पक्ष के एक भाग में रहनेवाले अनध्यवसित का उदाहरण – सब द्रव्य अनित्य हैं क्यों कि वे क्रिया से युक्त हैं। यहां प्रागभाव यह सपक्ष है (क्यों कि वह अनित्य है) तथा प्रध्वंसाभाव यह विपक्ष है (क्यों कि वह नित्य है) किन्तु इन दोनों में क्रियायुक्त होना यह हेतु नही पाया जाता। यहां पक्ष में शामिल घट, पट आदि में क्रियायुक्त होना यह हेतु है परन्तु आकाश आदि में (वे द्रव्य हैं तथापि) यह हेतु नहीं पाया जाता। जिस में विपक्ष न हो, सपक्ष हो तथा जो पक्ष में व्यापक हो ऐसे अनध्यवसित का उदाहरण – सब कार्य नित्य हैं क्यों कि उत्पत्ति यह उन का धर्म है। यहां सब कार्य यह पक्ष है अतः इस में विपक्ष नही हो सकता। यहां प्रध्वंसाभाव यह सपक्ष है (क्यों कि वह नित्य है) तथापि उस में उत्पत्ति होना यह हेतु नही पाया जाता। पक्ष में शामिल सब कार्यों में – घट, पट आदि में उत्पत्ति होना यह हेतु व्याप्त है। जिस में विपक्ष न हो, सपक्ष हो तथा जो पक्ष के एक भाग में विद्यमान हो ऐसे अनध्यवसित का उदाहरण – सब कार्य नित्य हैं क्यों कि वे अवयवसहित हैं। यहां पूर्वोक्त उदाहरण के समान ही सब कार्य यह पक्ष

कार्यत्वे घटादौ सावयवत्वं विद्यते, कार्यत्वे प्रध्वंसाभावे नित्यत्वे विद्यमानेऽपि सावयवत्वं नास्ति ॥

[२८. कालात्ययापदिष्टः]

कालात्ययापदिष्टस्तु कथ्यते। पक्षे साध्यस्य बाधा प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः। तत्र प्रत्यक्षबाधा – अग्निः अनुष्णः द्रव्यत्वात् जलवत्। अनुमानबाधा – अनित्यः परमाणुः मूर्तत्वात् घटवत् इत्युपजीवकानुमानं नित्यः परमाणुः अविभागित्वात् आत्मवत् इत्युपजीव्यानुमानेन बाध्यते। यत्रानुमानयोः उपजीव्योपजीवकभावे सति विरोधः तत्रोपजीव्यानुमानेन

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

होने से विपक्ष का अस्तित्वही नही हो सकता। सपक्ष प्रध्वंसाभाव है किन्तु उस में अवयवसहित होना यह हेतु नही है। पक्ष में शामिल कार्यों में घट, पट आदि में अवयवसहित होना यह हेतु है किन्तु प्रध्वंसाभाव इस कार्य में नित्य होने पर भी अवयवसहित होना यह हेतु नही पाया जाता।

कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास

अब कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास का वर्णन करते हैं। (जिस का साध्य बाधित हो उस हेतु को कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास कहते हैं यह ऊपर बता चुके हैं)। पक्ष में साध्य के बाधित होने के पांच प्रकार हैं– प्रत्यक्ष से, अनुमान से, आगम से, लोकरीति से तथा अपने ही कथन से। प्रत्यक्ष से बाधित साध्य का उदाहरण है– अग्नि उष्ण नही है क्यों कि वह द्रव्य है जैसे जल (यहां अग्नि का उष्ण न होना यह साध्य प्रत्यक्ष से बाधित है)। अनुमान से बाधित साध्य का उदाहरण - परमाणु अनित्य है क्यों कि वह मूर्त है जैसे घट। यहां परमाणु के अनित्य होने का अनुमान उपजीवक है। परमाणु नित्य है क्यों कि वह अविभागी है जैसे आत्मा – इस उपजीव्य अनुमान से उपर्युक्त उपजीवक अनुमान बाधित होता है। जहां दो अनुमानों में एक उपजीवक तथा दूसरा उपजीव्य हो तथा उन में विरोध हो वहां उपजीव्य अनुमान के द्वारा उपजीवक अनुमान बाधित होता है। जहां (अनुमानों में उपजीव्य-उपजीवक संबंध न होते हुए) केवल विरोध हो वहां उसे प्रकरणसमा जाति समझना चाहिए। विरोधी अनुमान से आक्षेप उपस्थित करना यह प्रकरणसम जाति है (किन्तु यह जाति अर्थात् झूठा दूषण
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

उपजीवकानुमानं बाध्यते। यत्र केवलं विरोधः तत्र प्रत्यनुमानेन अवस्थानं प्रकरणसमा जातिरेव न तु बाधा। यत्र केवलमुपजीव्योपजीवकभावः तत्रोपजीव्यानुमानं साधकमेव न तु बाधकम्। आगमबाधा - प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वात् अधर्मवत्। लोकबाधा - नरविष्ठा शुचिः नरशरीरजत्वात् स्तनक्षीरवदिति। स्ववचनबाधा - माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽपि अगर्भत्वात् प्रसिद्धवन्ध्यावदिति॥

[३९. प्रकरणसमः]

प्रकरणसमो यथा - अनित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात् सपक्षवदित्युक्ते नित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात् सपक्षवदिति। एतद् अनैकान्तिकान्नार्थान्तरम्। विपक्षेऽपि वृत्तिमत्त्वात् उभयत्र व्यभि-

---

है) यह वास्तविक बाधा नही है। जहां दो अनुमानों में (विरोध न होते हुए) एक उपजीव्य तथा दूसरा उपजीवक हो वहां उपजीव्य अनुमान (उपजीवक अनुमान का) साधक ही होता है, बाधक नही होता। आगम से बाधित साध्य का उदाहरण - धर्म मृत्यु के बाद दुःख देता है क्यों कि वह पुरुष पर आश्रित है, जैसे अधर्म (यहां मृत्यु के बाद धर्म दुःख देता है यह साध्य आगम से बाधित है)। लोकरीति से बाधित साध्य का उदाहरण - पुरुष का मल पवित्र है क्यों कि वह पुरुष के शरीर से निकलता है जैसे माता का दूध (यहां मल का पवित्र होना यह साध्य लोकरीति से बाधित है)। अपने ही वाक्य से बाधित साध्य का उदाहरण - मेरी माता वन्ध्या है क्यों कि पुरुष के संयोग के बाद भी उसे गर्भ नहीं रहता, जैसे अन्य वन्ध्याएं (यहां मेरी माता इस कथन से ही वन्ध्या होना यह साध्य बाधित है)।

प्रकरणसम हेत्वाभास

इस का उदाहरण निम्नलिखित है - शब्द अनित्य है क्यों कि वह पक्ष या सपक्ष में से एक है। यहां यह भी कहा जा सकता है कि शब्द नित्य है क्यों कि वह पक्ष या सपक्ष में से एक है (तात्पर्य, यह हेतु पक्ष के साध्य के लिए और उस के विरुद्ध साध्य के लिए - दोनों प्रकरणों के लिए समान है)। यह हेत्वाभास अनैकान्तिक से भिन्न नही है क्यों कि वह

चारित्वाच्च। किं च, पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षात् व्यावृत्तिः त्रैरूप्यम्। तत्र हेतोः विपक्षात् व्यावृत्तिः निश्चिता चेत् विपक्षे त्रैरूप्याभावो निश्चित एव। तद्व्यावृत्तिनिश्चये स्वपक्षे त्रैरूप्याभावो निश्चितः स्यादिति न कस्यापि हेतोः उभयत्र त्रैरूप्यं आघटीति। अथ पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वादिति पक्षत्वादिति अस्य हेतोः उभयत्र त्रैरूप्यं आघटीति इति चेन्न। तदसंभवात्। तथाहि। पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वादिति पक्षत्वादित्यभिप्रायः सपक्षत्वादिति वा। आद्ये पक्षत्वादित्यस्य हेतोः सपक्षे अभावात् सपक्षे सत्त्वाभावेन त्रैरूप्याभावः। द्वितीये सपक्षत्वादित्यस्य हेतोः पक्षे असत्त्वेन पक्षधर्मत्वाभावात् त्रैरूप्याभावः। तथापि श्रोतृणां व्युत्पत्यर्थं पृथक् निरूपणं प्रकरणसमस्य ॥

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

विपक्ष में भी विद्यमान होता है तथा (सपक्ष और विपक्ष) दोनों में अनियमित रूप से पाया जाता है (– व्यभिचारी है)। पक्ष का धर्म होना, सपक्ष में होना तथा विपक्ष में न होना ये हेतु के तीन रूप (आवश्यक गुण) हैं। यदि विपक्ष में हेतु नही है यह निश्चित हो तो उस हेतु के विपक्ष में ये तीन रूप नही होंगे यह निश्चित है। तथा यदि विपक्ष में हेतु का अभाव नही है (विपक्ष में भी हेतु पाया जाता है) यह निश्चित हो तो स्वपक्ष में इन तीन रूपों का अभाव निश्चित होता है। अतः किसी भी हेतु के तीनों रूप (पक्ष और विपक्ष) दोनों में घटित नही होते। उपर्युक्त उदाहरण में पक्ष और सपक्ष में से एक होना इस हेतु का तात्पर्य पक्ष होना यह हो तो दोनों पक्षों में हेतु के तीनों रूप संभव हैं यह कथन भी उचित नही क्यों कि यह असंभव है। पक्ष और सपक्ष में से एक होना इस पक्ष का तात्पर्य पक्ष होना यह होगा अथवा सपक्ष होना यह होगा। पहले पक्ष में पक्ष होना यह हेतु सपक्ष में नही हो सकता अतः उस के तीन रूपों में सपक्ष में होना इस एक रूप की कमी होगी। इसी प्रकार सपक्ष होना यह हेतु मानें तो वह पक्ष में न होने से पक्षधर्म होना इस रूप का अभाव होगा और इस प्रकार भी तीन रूप नही हो सकेंगे। (इस प्रकार प्रकरणसम का अनैकान्तिक से भिन्न अस्तित्व नही है) तथापि श्रोताओं के ज्ञान के लिए यहां प्रकरणसम हेत्वाभास का अलग से वर्णन किया है।
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

[४०. अन्वयदृष्टान्ताभासाः]

दृष्टान्ताभासा अन्वये साध्यसाधनोभयविकला आश्रयहीनाप्रदर्शितव्याप्तिविपरीतव्याप्तयश्च। व्यतिरेके साध्यसाधनोभयाव्यावृत्ता आश्रयहीनाप्रदर्शितव्याप्तिविपरीतव्याप्तयश्च। उदाहरणम् – नित्यः शब्दः अमूर्तत्वात् यद् यदमूर्तं तत् तन्नित्यं यथेन्द्रियसुखम् इत्युक्ते साध्यविकलः। यथा परमाणुरित्युक्ते साधनविकलः। यथा घट इत्युक्ते उभयविकलः। यथा खपुष्पमित्युक्ते आश्रयहीनः। आकाशवदित्युक्ते अप्रदर्शितव्याप्तिः। यन्नित्यं तदमूर्तं यथा व्योम इत्युक्ते विपरीतव्याप्तिकः॥

अन्वयदृष्टान्ताभास

अन्वय–दृष्टान्त के आभास छह प्रकार के हैं – साध्यविकल, साधनविकल, उभयविकल, आश्रयहीन अप्रदर्शितव्याप्ति तथा विपरीतव्याप्ति। व्यतिरेक दृष्टान्त के आभास भी छह प्रकार के हैं – साध्याव्यावृत्त, साधनाव्यावृत्त, उभयाव्यावृत्त, आश्रयहीन, अप्रदर्शितव्याप्ति, तथा विपरीतव्याप्ति। अन्वयदृष्टान्ताभासों के उदाहरण इस प्रकार हैं – शब्द नित्य है क्यों कि वह अमूर्त है, जो अमूर्त होता है वह नित्य होता है, जैसे इन्द्रियों से प्राप्त सुख है इस अनुमान में दृष्टान्त साध्यविकल है (नित्य होना यह साध्य इन्द्रियसुख इस दृष्टान्त में नहीं है)। इसी अनुमान में परमाणु का उदाहरण साधनविकल होगा (अमूर्त होना यह साधन परमाणु इस दृष्टान्त में नहीं है)। घट का दृष्टान्त उभयविकल होगा (इस में नित्य होना यह साध्य और अमूर्त होना यह साधन दोनों नहीं हैं)। आकाशपुष्प का दृष्टान्त आश्रयहीन होगा (आकाशपुष्प का अस्तित्व ही नहीं है अतः उस में साध्य या साधन नहीं हो सकते)। (जो अमूर्त है वह नित्य होता है इस व्याप्ति को न बतलाते हुए केवल) जैसे आकाश है यह कहा तो अप्रदर्शितव्याप्ति दृष्टान्ताभास होगा। जो नित्य है वह अमूर्त होता है जैसे आकाश है ऐसा कहा हो तो वह विपरीतव्याप्ति दृष्टान्ताभास होगा (यहां जो अमूर्त होता है वह नित्य होता है ऐसी व्याप्ति बतलानी चाहिए क्यों कि नित्यत्व साध्य है, जो नित्य होता है वह अमूर्त होता है यह इस के उलटी व्याप्ति है अतः यह विपरीतव्याप्ति दृष्टान्ताभास है)।

[४१. व्यतिरेकदृष्टान्ताभासाः]

व्यतिरेके यत् न नित्यं तत् नामूर्तं यथा परमाणुरित्युक्ते साध्याव्यावृत्तः। यथेन्द्रियसुखम् इत्युक्ते साधनाव्यावृत्तः। यथा व्योमेत्युक्ते उभयाव्यावृत्तः। यथा खपुष्पमित्युक्ते आश्रयहीनः। पटवत् इत्युक्ते अप्रदर्शितव्याप्तिः। यन्नामूर्तं तत् न नित्यं यथा घट इत्युक्ते विपरीतव्याप्तिकः॥

[४२. दृष्टान्ताभासानां व्याप्तिवैकल्यम्]

तत्रान्वये साध्यविकला व्यतिरेके साधनाव्यावृत्ताश्च व्याप्तिरहिता मान्ये। तेषां साध्यरहिते धर्मिणि साधनप्रदर्शकत्वाभावात्। तथा हि।

व्यतिरेक दृष्टान्ताभास

व्यतिरेक दृष्टान्ताभासों के उदाहरण इस प्रकार हैं–जो नित्य नही होता वह अमूर्त नही होता जैसे परमाणु इस अनुमान में दृष्टान्त साध्याव्यावृत्त है (नित्य होना इस साध्य से परमाणु यह दृष्टान्त व्यावृत्त नही है क्यों कि परमाणु नित्य होता है)। इसी अनुमान में इन्द्रियसुख का उदाहरण साधनाव्यावृत्त होगा (अमूर्त होना इस साधन से इन्द्रियसुख व्यावृत्त नही है, सुख अमूर्त ही होता है)। आकाश का दृष्टान्त उभयाव्यावृत्त होगा (नित्य होना यह साध्य तथा अमूर्त होना यह साधन दोनों से आकाश यह दृष्टान्त व्यावृत्त नही है, वह नित्य भी है और अमूर्त भी)। आकाशपुष्प का दृष्टान्त आश्रयहीन होगा (इस का अस्तित्व ही न होने से साध्य या साधन का संबंध ही नही हो सकता)। वस्त्र का दृष्टान्त अप्रदर्शितव्याप्तिक होगा (इस में जो नित्य नही वह अमूर्त नहीं इस व्याप्ति को न बतला कर केवल 'जैसे वस्त्र' इतना कहा गया है– व्याप्ति प्रदर्शित नही की गई है)। जो अमूर्त नहीं होता वह नित्य नही होता जैसे घट – यह दृष्टान्त विपरीतव्याप्तिक होगा (जो व्याप्ति का वाक्य होना चाहिए उसके ठीक उलटा वाक्य यहां प्रयुक्त किया है)।

दृष्टान्ताभासों में व्याप्ति की विकलता

उपर्युक्त दृष्टान्ताभासों में अन्वय में साध्यविकल दृष्टान्ताभास तथा व्यतिरेक में साधनाव्यावृत्त दृष्टान्ताभास ये दो ही व्याप्ति से रहित होते हैं–

साधनविकलसाध्याव्यावृत्तयोः सपक्षत्वात् तत्र क्वचिदप्रवृत्तस्यापि धूमा-देर्व्याप्तिवैकल्याभावात्। सपक्षे सर्वत्राप्रवृत्तस्य विरुद्धत्वेन अनध्यवसि-तत्वेनैव वा व्याप्तिवैकल्यनिश्चयो नान्यथा। उभयविकले साध्यव्यावृत्त्या साधनव्यावृत्तिदर्शनात् व्याप्तिनिश्चयो न तद्वैकल्यम्। उभयाव्यावृत्ते साध्यव्याप्तसाधनप्रतिपत्तेः तत्रापि तथा। आश्रयहीने आश्रयाभावात् आश्रयिणोः साध्यसाधनयोरप्यभावात् व्याप्तिनिश्चयो न तद्वैकल्यम्। अपरौ वचनदोषाविति सर्वेऽपि प्रत्यपीपदन् ततो न व्याप्तिवैकल्याव-बोधहेतू॥

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

अन्य दृष्टान्ताभास व्याप्ति से रहित नही होते। अन्य दृष्टान्ताभासों मे धर्मी साध्य से रहित होता है अतः उस मे साधन बतलाने की संभावना नही होती। इसी को स्पष्ट करते हैं। (अन्वय में) साधनविकल तथा (व्यतिरेक में) साध्याव्यावृत्त ये दृष्टान्ताभास सपक्ष होते हैं, और सपक्ष मे कहीं कहीं धूम आदि (हेतु) न भी हों तो भी उतने से व्याप्ति का अभाव सिद्ध नही होता। व्याप्ति के अभाव का निश्चय तब होता है जब हेतु सपक्ष में कहीं भी न हो अथवा विरुद्ध हो (विपक्ष में ही हो) अथवा अनध्यवसित हो (सपक्ष और विपक्ष दोनों में हो)। जो दृष्टान्त उभयविकल है (साधन-विकल भी है और साध्यविकल भी है) उस में तो व्याप्ति का निश्चय ही होगा – व्याप्ति का अभाव ज्ञात नही होगा – क्यों कि वहां साध्य के न होने पर साधन का न होना ही देखा जाता है। इसी प्रकार उभयाव्यावृत्त (साधनाव्यावृत्त होते हुए साध्याव्यावृत्त) दृष्टान्ताभास में भी व्याप्ति का निश्चय ही होगा क्यों कि वहां जहां साध्य है वहां साधन है इस प्रकार व्याप्ति ही ज्ञात होगी। आश्रयहीन दृष्टान्ताभास में आश्रय के ही न होने से उस में आश्रित साध्य और साधन दोनों का अभाव ज्ञात होगा, इस तरह भी व्याप्ति का निश्चय ही होगा, व्याप्ति के अभाव का ज्ञान नही होगा। अप्रदर्शितव्याप्तिक तथा विपरीत व्याप्तिक ये दो दृष्टान्ताभास तो वाक्य के दोष है यह सभी मानते हैं अतः वे व्याप्ति के अभाव का निश्चय नही कराते यह भी स्पष्ट है (इन दो दृष्टान्ताभासों में व्याप्ति गलत नही होती, केवल उस को प्रस्तुत न करना या उलटा प्रस्तुत करना यह दोष होता है)।
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

[४३. तर्कः]

व्याप्तिबलेन परस्यानिष्टापादनं तर्कः। स च आत्माश्रय इतरेतराश्रयश्चक्रकाश्रयः अनवस्था अतिप्रसङ्ग इति पञ्चप्रकारः। स्वस्य स्वयमेवोत्पादक इत्युक्ते उत्पत्तिपक्षे आत्माश्रयः। माया कुतः उत्पद्यते स्वत एवेत्यादि। स्वस्य स्वयमेव ज्ञापक इत्युक्ते ज्ञप्तिपक्षे आत्माश्रयः। ब्रह्म केन ज्ञायते स्वेनैवेत्यादि। द्वयोः परस्परमुत्पादकत्वे उत्पत्तिपक्षे इतरेतराश्रयः। माया कुत उत्पद्यते अविद्यातः, अविद्या कुत उत्पद्यते मायातः इत्यादि। द्वयोः परस्परं ज्ञापकत्वे ज्ञप्तिपक्षे इतरेतराश्रयः। आत्मा केन ज्ञायते ज्ञानेन, ज्ञानं केन ज्ञायते आत्मनेत्यादि। त्र्याद्यष्टान्तानां परस्परमुत्पादकत्वे उत्पत्तिपक्षे चक्रकाश्रयः। जीवः कस्माज्जायते अविद्यातः,

तर्क

व्याप्ति के बल से प्रतिपक्षी के लिए अनिष्ट बात को सिद्ध करना तर्क कहलाता है। उस के पांच प्रकार हैं – आत्माश्रय, इतरेतराश्रय, चक्रकाश्रय, अनवस्था तथा अतिप्रसंग। (कोई पदार्थ) अपनी उत्पत्ति स्वयं करता है ऐसा कहने पर उत्पत्ति की दृष्टि से आत्माश्रय होता है, जैसे माया कहां से उत्पन्न होती है (यह पूछने पर कहना कि) स्वयं ही उत्पन्न होती है। अपना ज्ञान स्वयं कराता है यह कहने पर ज्ञान की दृष्टि से आत्माश्रय होता है, जैसे – ब्रह्म किस से जाना जाता है (यह पूछने पर कहना कि) स्वयं ही जाना जाता है। दो पदार्थ एक दूसरे के उत्पादक हैं ऐसा कहने पर उत्पत्ति की दृष्टि से इतरेतराश्रय होता है, जैसे – माया कहां से उत्पन्न होती है (यह पूछने पर कहना कि) अविद्या से (उत्पन्न होती है) तथा अविद्या कहां से उत्पन्न होती है (यह पूछने पर कहना कि) माया से (उत्पन्न होती है)। दो पदार्थ एक दूसरे का ज्ञान कराते हैं यह कहने पर ज्ञान की दृष्टि से इतरेतराश्रय होता है, जैसे – आत्मा का ज्ञान किस से होता है (यह पूछने पर कहना कि) ज्ञान से (आत्मा जाना जाता है) तथा ज्ञान किस से जाना जाता है (यह पूछने पर कहना कि) आत्मा द्वारा (ज्ञान जाना जाता है)। तीन से ले कर आठ तक वस्तुएं एक दूसरे की उत्पादक हैं ऐसा कहने पर उत्पत्ति की दृष्टि से चक्रकाश्रय होता है, जैसे – जीव किस से उत्पन्न-

अविद्या कुतो जायते मायातः, माया कस्माज्जायते संस्कारात्, संस्कारः कस्माज्जायते जीवात्, जीवः कस्माज्जायते इत्यादि। त्र्याद्यष्टान्तानां परस्परं ज्ञापकत्वे ज्ञप्तिपक्षे चक्रकाश्रयः। पावकः केन ज्ञायते धूमेन, धूमः केन ज्ञायते मेघेन, मेघः केन ज्ञायते अशनिना, अशनिः केन ज्ञायते पावकेनेत्यादि। उत्पादकज्ञापकप्रश्नयोः अपरिनिष्ठा अनवस्था। सस्यं कस्माज्जायते बीजात्, बीजं कस्माज्जायते प्राक्तनसस्यात्, तदपि कुतः प्राक्तनबीजात् इत्यादि उत्पत्तिपक्षे अनवस्था। ज्ञानं केन ज्ञायते अनुव्यवसायेन, सोऽपि केन ज्ञायते अपरानुव्यवसायेन, सोऽप्यपरेणेति ज्ञप्ति-

---

होता है (यह पूछने पर कहना कि) अविद्या से, अविद्या किस से उत्पन्न होती है (यह पूछने पर कहना कि) माया से, माया किस से उत्पन्न होती है (यह पूछने पर कहना कि) संस्कार से, संस्कार किस से उत्पन्न होता (यह पूछने पर कहना कि) जीव से, फिर जीव किस से उत्पन्न होता है (तो उत्तर वही होगा – अविद्या से) । तीन से ले कर आठ तक वस्तुएं एक दूसरे का ज्ञान कराती हैं ऐसा कहने पर ज्ञान की दृष्टि से चक्रकाश्रय होता है, जैसे – अग्नि कैसे जाना जाता है (तो उत्तर है) धुंए से, धुंआ कैसे जाना जाता है (तो उत्तर है) बादल से, बादल कैसे जाना जाता है (तो उत्तर है) बिजली से, बिजली कैसे जानी जाती है (तो फिर उत्तर होगा) अग्नि से। उत्पादक अथवा ज्ञान कराने वाले के बारे में प्रश्न समाप्त ही न होना यह अनवस्था होती है, जैसे – फसल कहां से उत्पन्न होती है (तो उत्तर है) बीज से, बीज कहां से उत्पन्न होता है (तो उत्तर है) उस के पहले की फसल से, वह (फसल) कहां से उत्पन्न हुई थी (तो उत्तर होगा) उस के पहले के बीज से – इस प्रकार उत्पत्ति की दृष्टि से अनवस्था होती है। ज्ञान कैसे जाना जाता है (तो उत्तर है) अनुव्यवसाय से (ज्ञान को जाननेवाले ज्ञान से), वह (अनुव्यवसाय) कैसे जाना जाता है (तो उत्तर है) दूसरे अनुव्यवसाय से (ज्ञान को जाननेवाले ज्ञान को जाननेवाले ज्ञान से) वह (दूसरा अनुव्यवसाय) भी तीसरे (अनुव्यवसाय) से (जाना जाता है) इस प्रकार ज्ञान की दृष्टि से अनवस्था होती है। जो व्याप्य और व्यापक प्रसिद्ध हैं उन में व्याप्य का स्वीकार करने पर व्यापक का

चक्री अनवस्था। प्रसिद्धव्याप्यव्यापकयोः मध्ये व्याप्याङ्गीकारे व्यापकाङ्गीकारप्रसञ्जनमतिप्रसंगः। मायावादिभिः ब्रह्मस्वरूपस्य भ्रान्तिविषयस्य च अप्रमातृवेद्यत्वाङ्गीकारे ब्रह्मस्वरूपमसत् प्रमातुरवेद्यत्वाद् रज्जुसर्पवत्, रज्जुसर्पादि सद्रूपं प्रमातुरवेद्यत्वाद् ब्रह्मस्वरूपवदित्यादि ॥

[४४. तर्कदोषाः]

मूलशैथिल्यं मिथोविरोधः इष्टापादनं विपर्ययेऽपर्यवसानमिति तर्कदोषाश्चत्वारः। तत्र तर्कस्य मूलभूतव्याप्तेर्व्यभिचारो मूलशैथिल्यम्। अनिष्टापादकव्याप्तेः आपाद्यानिष्टस्य च विरोधो मिथोविरोधः। आपाद्यानिष्टधर्मः परस्येष्टश्चेत् इष्टापादनम्। व्याप्त्या परस्यानिष्टमापाद्य तद्विपर्यये पर्यवसानाकरणं विपर्ययेऽपर्यवसानम् ॥

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

भी स्वीकार करना पडेगा यह कथन अतिप्रसंग होता है, जैसे – मायावादी यह स्वीकार करते है कि ब्रह्म का स्वरूप प्रमाता द्वारा जाना नही जा सकता तथा भ्रम का विषय भी प्रमाता द्वारा जाना नही जा सकता, इस पर यह कहना कि ब्रह्म का स्वरूप प्रमाता द्वारा नही जाना जाता अतः वह रस्सी में प्रतीत होनेवाले सर्प के समान असत् है, अथवा रस्सी में प्रतीत होनेवाले सर्प आदि सत् हैं क्यों कि वे भी ब्रह्म के स्वरूप के समान ही प्रमाता द्वारा जाने नही जाते (यह अतिप्रसंग कहलाता है)।

तर्क के दोष

तर्क के चार दोष होते हैं – मूलशैथिल्य, मिथः विरोध, इष्टापादन तथा विपर्यय में अपर्यवसान। तर्क की मूलभूत व्याप्ति गलत होना यह मूल में शिथिलता नाम का पहला दोष है। (प्रतिपक्षी के लिए) अनिष्ट बात को सिद्ध करनेवाली व्याप्ति में तथा (उस व्याप्ति से) सिद्ध होनेवाली अनिष्ट बात में (परस्पर) विरोध होना यह मिथः विरोध नाम का दूसरा दोष है। सिद्ध किया जानेवाला अनिष्ट गुण यदि प्रतिपक्षी को इष्ट ही हो तो वह इष्टापादन नाम का तीसरा दोष होता है। व्याप्ति के द्वारा प्रतिपक्षी के लिए अनिष्ट बात को बतला कर फिर उस की विरुद्ध बात को पूरा न करना यह विपर्यय में अपर्यवसान नाम का चौथा दोष होता है।
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

[४५. छलम्]

साधनाद् दूषणाद् यस्मात् न स्यात् पक्षस्य निश्चयः।
तयोरन्यतरस्यासौ तदाभासः प्रकीत्यते ॥ ५ ॥
छलादयस्तदाभासाः तद्विज्ञानाद् ऋते न च।
वर्जनोद्भावने चैषां स्ववाक्यपरवाक्ययोः ॥ ६ ॥
ततस्तेऽपि निरूप्यन्ते बालानां प्रतिबुद्धये।
आपाद्यार्थान्तरं वाक्यविघातः छलमुच्यते ॥ ७ ॥
तच्च वाक्छलं सामान्यछलमुपचारछलमिति त्रिविधम् ॥

[४६. वाक्छलम्]

अनेकवाचके शब्दे प्रयुक्ते ऋजुवादिना।
वक्तुर्मनःस्थादन्यस्य प्रतिषेधो हि वाक्छलम् ॥ ८ ॥

उदाहरणम्—आढ्योऽयं नवकम्बलत्वात् इति समञ्जसोऽब्रवीत्। तत्र छलवादी प्रत्याख्यत् कुतोऽस्य नव कम्बला इति। प्रत्यग्रकम्बलसम्बन्धित्वं

छल

जिस साधन से व दूषण से दो पक्षों मे एक का निश्चय न हो वह साधनाभास व दूषणाभास कहलाता है। छल इत्यादि ये साधनाभास व दूषणाभास हैं, उनको जाने विना अपने वाक्यों से उन्हें दूर रखना और प्रतिवादी के वाक्यो मे उन्हें पहचानना संभव नहीं है। अतः अज्ञानी शिष्यों को समझाने के लिए उन का भी वर्णन करते हैं।

(वक्ता के इष्ट अर्थ को छोड कर) दूसरे ही अर्थ की कल्पना कर के बात काटना यह छल कहलाता है। इस के तीन प्रकार हैं – वाक्छल, सामान्यछल तथा उपचारछल।

वाक्छल

सरल भावना से युक्त वादी द्वारा अनेक अर्थों के वाचक किसी शब्द का प्रयोग किये जाने पर उस के मन में विवक्षित अर्थ (को छोड कर उस) से भिन्न अर्थ (की कल्पना कर के उस) का निषेध करना वाक्छल है। उदाहरण–किसी समझदार ने कहा कि इस व्यक्ति का कम्बल नव है अतः

वक्तुः अभिप्रेतम्। छलवादी तु नवसंख्यावच्छिन्नकम्बलसम्बन्धित्व-मारोप्य असंभवेन व्यषेधीत् कुतोऽस्य नव कम्बला इति। तमेवं पृच्छेत्। अनेकवाचकशब्दादिमं विशेषं कुतो व्यज्ञासीः त्वमिति। न कुतश्चित्। तस्मादनेकवाचके शब्दप्रयोगे अस्य शब्दस्य एतावन्तोऽर्थाः संभाव्यन्ते। तन्मध्ये कतममर्थम् अविवक्षीः त्वमिति वक्तारं पृच्छेत्। पश्चात् विपश्चित् तन्निश्चित्य तमभ्यनुजानीयात् तदुपरि दूषणं वा दद्यात्। नो चेदभिप्रेता-परिज्ञानेन निग्रहः प्रसज्यते ॥

[४७. सामान्यच्छलम्]

हेतुत्वकारणत्वाभ्यां विकल्प्य प्रतिषेधनम्।
वाक्ये संभाव्यमानार्थे सामान्यछलमुच्यते ॥ ९ ॥

ब्राह्मणश्चतुर्वेदाभिज्ञः इति समज्ञसः प्रत्यपीपदत्। तत्र छलवादी प्रत्यवा-

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

यह श्रीमान प्रतीत होता है । वहां छल का प्रयोग करनेवाला आक्षेप करता है कि इस के पास नौ कम्बल कहां से हो सकते हैं (एकही कम्बल है) । वहां पहले बोलनेवाले के मन में नवकम्बलत्व का अर्थ नये कम्बल से युक्त होना यह है । छलवादी ने नौ संख्या से युक्त कम्बलों से युक्त होने की कल्पना कर के और उसे असंभव बतला कर उस का निषेध किया । ऐसे छलवादी को इस प्रकार प्रश्न करे कि अनेक अर्थों के वाचक इस (नव) शब्द का यह विशिष्ट अर्थ (नौ) तुमने कैसे जाना । इस का कोई साधन नहीं है। अतः अनेक अर्थों के वाचक शब्द का प्रयोग करने पर इस शब्द के इतने अर्थ हो सकते हैं इन में से तुम्हें कौनसा अर्थ विवक्षित है ऐसा वक्ता को पूछना चाहिए, फिर बुद्धिमान व्यक्ति उस का निश्चय कर के उसे स्वीकार करे अथवा उस में दूषण बताये । नहीं तो अभिप्रेत अर्थ को न समझने का दोष प्राप्त होता है ।

सामान्य छल

वाक्य में जहां संभावना का अर्थ व्यक्त करना हो वहां उस में हेतु अथवा कारण होने की कल्पना कर के निषेध करना सामान्य छल कहलाता है । जैसे–किसी समझदार ने कहा कि ब्राह्मण चार वेदों को जानता है । वहां छल का प्रयोग करनेवाला आक्षेप करता है कि ब्राह्मण होना चार वेदों
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

तिहिपत्। ब्राह्मणत्वं चतुर्वेदाभिज्ञत्वे हेतुर्न भवति अनधीतेनानैकान्तात्, कारणं न भवति अनधीतेऽपि तत्कारणत्वप्रसङ्गादिति। सोऽप्यभिप्रेतापरिज्ञानेन निगृहीतः स्यादिति। ब्राह्मणे चतुर्वेदाभिज्ञत्वसंभावनस्योक्तत्वात् यथात्र क्षेत्रे प्रत्यक्षं संपनीपद्यत इति ॥

[४८. उपचारच्छलम्]

उपचारेण वक्त्रा यद्भिधेयनिरूपणे।
प्रधानत्वनिषेधे तदुपचारच्छलं भवेत् ॥ १० ॥

वादी गङ्गायां ग्रामः प्रतिवसतीत्यवादीत्। तत्र छलवादी प्रत्यवोचत्। गङ्गा नाम जलप्रवाहः, जलप्रवाहे ग्रामस्य अवस्थानासम्भवात् तद्युक्तमवादीस्त्वमिति। सोऽप्यभिप्रेतापरिज्ञानेन निगृहीतः स्यात्।

को जानने का हेतु नही है क्यों कि जो पढा नही है उस से इस का अनेकान्त है (जो पढा नही है वह ब्राह्मण होने पर भी वेदों को नही जानता); तथा ब्राह्मण होना चार वेदो को जानके का कारण भी नही है, यदि होता तो जो पढा नही है उस के विषय मे भी वह वेदो को जानने का कारण होता। ऐसा छलवादी अभिप्रेत अर्थ को न समझने के दोष से दूषित होता है क्यों कि इस वाक्य में ब्राह्मण के चार वेदों के जानकार होने की संभावना व्यक्त की है और यह इस जगह प्रत्यक्षही देखा जाता है (अतः वेदज्ञान की संभावना के मुख्य अर्थ को छोड कर उस के हेतु अथवा कारण की कल्पना कर निषेध करना व्यर्थ है – छल है)।

उपचारछल

वक्ता द्वारा विषय का वर्णन उपचार से किये जाने पर प्रधान अर्थ के निषेध पर जोर देना यह उपचारछल कहलाता है। उदाहरणार्थ – वादी ने कहा कि गंगा पर गांव बसा है। यहां छलवादी ने कहा कि गंगा तो जल का प्रवाह है, जल के प्रवाह पर गांव नही बस सकता अतः आपने अयोग्य बात कही। ऐसा छलवादी अभिप्रेत अर्थ को न समझने के दोष से दूषित होता है क्यों कि यहां ' गंगा पर ' इस शब्द का प्रयोग उपचार से ' गंगा

अधिकरणनिरूपणं सामीप्यौपचारिकयोः इति गङ्गाशब्देन समीपस्योपचरितत्वात् ॥

[४९. जातयः]

उक्ते हेतौ विपक्षेण साम्यापादनवाक्यतः ।
जातिः प्रतिविधिः प्रोक्ता विंशतिश्चतुरुत्तरा ॥ ११ ॥

साधर्म्य - वैधर्म्य - उत्कर्ष - अपकर्ष - वर्ण्य - अवर्ण्य - विकल्प - असिद्धादि - प्राप्ति - अप्राप्ति - प्रसङ्ग-प्रतिदृष्टान्त-अनुत्पत्ति-संशय-प्रकरण-अहेतु-अर्थापत्ति-अविशेष-उपपत्ति-उपलब्धि-अनुपलब्धि-नित्य-अनित्य - कार्यसमा जातयः ॥

[५०. साधर्म्यवैधर्म्यसमे]

तत्र स्थापनाहेतौ प्रयुक्ते साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा जातिः। वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिः। तयोः उदाहरणम्। अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवदित्युक्ते जातिवाद्याह। घटसाधर्म्यात्

के समीप ' इस अर्थ में हुआ है। अधिकरण का प्रयोग औपचारिक सामीप्य के अर्थ में होता है ऐसा नियम है।

जातियाँ

हेतु के कहने के बाद विपक्ष से समानता बतलानेवाले वाक्य से दिया हुआ उत्तर जाति कहलाता है। जातियाँ चौबीस हैं– साधर्म्यसमा, वैधर्म्यसमा, उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा, असिद्धादिसमा, प्राप्तिसमा, अप्राप्तिसमा, प्रसङ्गसमा, प्रतिदृष्टान्तसमा, अनुत्पत्तिसमा, संशयसमा, प्रकरणसमा, अहेतुसमा, अर्थापत्तिसमा, अविशेषसमा, उपपत्तिसमा, उपलब्धिसमा, अनुपलब्धिसमा, नित्यसमा, अनित्यसमा तथा कार्यसमा (इन का अब क्रमशः वर्णन करेंगे)।

साधर्म्यसमा तथा वैधर्म्यसमा जाति

(किसी साध्य को) स्थापित करनेवाले हेतु का प्रयोग करने पर उस की समानता से कोई आक्षेप उपस्थित करना यह साधर्म्यसमा जाति होती है तथा उस से भिन्नता बतला कर कोई आक्षेप उपस्थित करना यह वैधर्म्यसमा जाति है। इन के उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं। शब्द अनित्य है क्यों कि

कृतकत्वात् शब्दे अनित्यत्वं प्रसाध्यते चेत् आकाशसाधर्म्यात् अमूर्तत्वात् नित्यत्वमपि प्रसाध्यते। इति प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा जातिः। आकाश-वैधर्म्यात् कृतकत्वात् शब्दे अनित्यत्वं प्रसाध्यते चेत् घटवैधर्म्यात् अमूर्तत्वात् नित्यत्वमपि प्रसाध्यत इति प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिः॥

[५१. उत्कर्षापकर्षसमे]

दृष्टान्ते दृष्टस्यानिष्टधर्मस्य दार्ष्टान्ते योजनमुत्कर्षसमा जातिः। तदनिष्टधर्मनिवृत्तौ पक्षस्य साध्यधर्मनिवृत्तिः अपकर्षसमा जातिः। तयोरुदाहरणम्। अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवदित्युक्ते घटे तावद्-

वह कृतक है जैसे घट, इस अनुमान के प्रयोग करनेपर जातिवादी कहता है– घट के समान कृतक होने से शब्द को अनित्य सिद्ध किया जाय तो आकाश के समान अमूर्त होने से शब्द नित्य भी सिद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार के आक्षेप को साधर्म्यसमा जाति कहते हैं। यदि आकाश से भिन्न अर्थात कृतक होने से शब्द को अनित्य सिद्ध किया जाय तो घट से भिन्न अर्थात अमूर्त होने से शब्द को नित्य भी सिद्ध किया जा सकता है। ऐसे आक्षेप को वैधर्म्यसमा जाति कहते हैं। (ये दोनों आक्षेप जाति अर्थात झूठे दूषण हैं–वास्तविक दूषण नही हैं क्यों कि इन में अनुमान की मूलभूत व्याप्ति–जो कृतक होता है वह अनित्य होता है–को गलत सिद्ध नही किया है, केवल विरोधी उदाहरण ढूंढने की कोशिश की गई है, इस में शब्द को अमूर्त कहा है वह भी ठीक नही है)।

उत्कर्षसमा तथा अपकर्षसमा जाति

दृष्टान्त में कोई अनिष्ट धर्म (साध्य के प्रतिकूल गुण) देखा गया हो तो उसे दार्ष्टान्त में (साध्य में) जोड देना यह उत्कर्षसमा जाति होती है। दृष्टान्त से अनिष्ट धर्म के हटाने पर पक्ष से साध्य गुणधर्म हटेगा ऐसा कहना अपकर्षसमा जाति होती है। इन दोनों के उदाहरण इस प्रकार हैं। शब्द अनित्य हैं क्यों कि वह कृतक है जैसे घट इस अनुमान के प्रस्तुत करने पर यह कहना कि घट में अनित्यता के साथ अश्रावणता (सुना न जाना) की व्याप्ति है ऐसा देखा गया है, यदि घट का अनित्यत्व यह व्याप्य शब्द में स्वीकार किया जाता है तो उसका व्यापक अश्रावणत्व भी स्वीकार किया जाना

नित्यमश्रावणत्वेन व्याप्तं दृष्टं तदनित्यत्वं व्याप्यं शब्देऽङ्गीक्रियते तर्हि तद्व्यापकमश्रावणत्वमप्यङ्गीक्रियेत इत्युक्ते उत्कर्षसमा जातिः। शब्दे व्यापकमश्रावणत्वं नेष्यते चेत् व्याप्यमनित्यत्वमपि नेष्टव्यमित्युक्ते अपकर्षसमा जातिः। अत्राश्रावणत्वमुपाधिरिति ज्ञातव्यम्। साधनाव्यापकः साध्यव्यापकः उपाधिरिति तस्य लक्षणम्॥

[५२. वर्ण्यावर्ण्यसमे]

साध्यस्य यथा हेतुसाध्यत्वं तथा दृष्टान्तस्यापि हेतुसाध्यत्वेन भवितव्यमित्युक्ते वर्ण्यसमा जातिः। दृष्टान्तवत् साध्यस्याप्यहेतुसाध्यत्वं स्यादित्युक्ते अवर्ण्यसमा जातिः॥

चाहिए-यह उत्कर्षसमा जाति है। इसी अनुमान में व्यापक अश्रावणत्व शब्द में स्वीकार नहीं किया जा सकता (क्यों कि शब्द श्रावण है-सुना जाता है) तो उस का व्याप्य अनित्यत्व भी शब्द में नही मानना चाहिए यह कहना अपकर्षसमा जाति है। यहा अश्रावणत्व को उपाधि समझना चाहिए। जो साध्य में व्यापक हो किन्तु साधन में व्यापक न हो वह उपाधि है ऐसा उस का लक्षण है। (उत्कर्षसमा तथा अपकर्षसमा ये जातियां अर्थात झूठे दूषण हैं क्यों कि इन में प्रस्तुत अनुमान की मूलभूत व्याप्ति को जो कृतक होता है वह अनित्य होता है-इस कथन को छोड कर दृष्टान्त के अश्रावणत्व इस गुण पर जोर दिया गया है तथा जो अश्रावण होता है वह अनित्य होता है यह गलत व्याप्ति बनाई गई है। यह व्याप्ति ही गलत होने से उस पर आधारित आक्षेप भी झूठे हैं)।

वर्ण्यसमा तथा अवर्ण्यसमा जाति

जिस प्रकार साध्य हेतु से सिद्ध किया जाता है उसी प्रकार दृष्टान्त भी हेतु से सिद्ध किया जाना चाहिए ऐसा कहना वर्ण्यसमा जाति है। जिस प्रकार दृष्टान्त हेतु से सिद्ध नही किया जाता उसी प्रकार साध्य भी हेतु के बिना ही सिद्ध मानना चाहिए ऐसा कहना अवर्ण्यसमा जाति है।

[५३. विकल्पसमा]

दृष्टान्ते धर्मविकल्पप्रदर्शनेन दार्ष्टान्तिके धर्मान्तरापादनं विकल्पसमा जातिः। अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवदित्युक्ते कृतकत्वाविशेषेऽपि किंचिन्मूर्तं दृष्टं यथा घटादि किंचिदमूर्तं दृष्टं यथा रूपादि तद्वत् कृतकत्वाविशेषेऽपि पटादिकमनित्यं शब्दादि नित्यं भवेदित्यादि विकल्पसमा जातिः॥

[५४. असिद्धादिसमा]

हेतोः साध्यसद्भावाभावोभयधर्मविकल्पनया असिद्धविरुद्धानैकान्तिकतापादनम् असिद्धादिसमा जातिः। अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवदित्युक्ते कृतकत्वादयं हेतुः साध्यसद्भावधर्मः अभावधर्म उभय-

विकल्पसमा जाति

दृष्टान्त में गुणधर्मों का विकल्प बतला कर दार्ष्टान्तिक (दृष्टान्त पर आधारित साध्य) में दूसरे गुणधर्म की कल्पना करना विकल्पसमा जाति है। जैसे – शब्द अनित्य है क्यों कि वह कृतक है जैसे घट इस अनुमान में यह कहना कि समान रूप से कृतक होने पर भी कुछ वस्तुएं मूर्त होती हैं जैसे घट तथा कुछ अमूर्त होती हैं जैसे रूप, उसी प्रकार समान रूप से कृतक होने पर भी वस्त्र आदि को अनित्य तथा शब्द आदि को नित्य माना जा सकता है (यहां दृष्टान्त में मूर्तत्व तथा अमूर्तत्व का विकल्प बतला कर दार्ष्टान्तिक अर्थात शब्द में नित्यत्व की कल्पना की गई है अतः यह विकल्पसमा जाति है)।

असिद्धादिसमा जाति

हेतु साध्य में है अथवा उसका अभाव है अथवा दोनों हैं इस प्रकार विकल्प कर के हेतु को असिद्ध, विरुद्ध अथवा अनैकान्तिक बतलाना यह असिद्धादिसमा जाति होती है। उदाहरणार्थ–शब्द अनित्य है क्यों कि वह कृतक है जैसे घट इस अनुमान के प्रस्तुत करने पर यह कहना कि यहां कृतक होना इस हेतु का साध्य में अस्तित्व है, अभाव है, अथवा अस्तित्व तथा अभाव दोनों हैं, इन में पहला पक्ष स्वीकार करें (हेतु का साध्य में सद्भाव मानें) तो अभी साध्य का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं है अतः उस के गुणधर्मरूप हेतु को भी असिद्ध

धर्मो वा। आद्ये अद्यापि साध्यसद्भावस्य असिद्धत्वात् तद्धर्मस्य हेतोः असिद्धत्वं द्वितीये साध्यविपरीतस्य धर्मत्वात् विरुद्धत्वम्। तृतीये उभयधर्मत्वादनैकान्तिक इत्यादि ॥

[५५. अन्यतरासिद्धसमा]

एकान्तानेकान्तादिविकल्पेन हेतोः अन्यतरासिद्धत्वापादनम् अन्यतरासिद्धसमा जातिः। पूर्वप्रयोगे कृतकत्वादयं हेतुः एकान्तः अनेकान्तः वा, आद्ये जैनानामसिद्धः,द्वितीये अन्येषामसिद्धः। अक्षणिकः क्षणिको वा,

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

ही मानना होगा, यदि दूसरा पक्ष स्वीकार करें (हेतु का साध्य में अभाव मानें) तो वह हेतु विरुद्ध होगा क्यों कि वह साध्य के विरुद्ध गुणधर्म होगा, तथा तीसरे पक्ष में दोनों (सद्भाव और अभाव) मानें तो वह हेतु अनैकान्तिक होगा (क्यों कि साध्य में उस का अस्तित्व या अभाव निश्चित नही है) (यह असिद्धादिसमा जाति है, वास्तविक दूषण नही, क्यों कि इस में साध्य और हेतु के संबंध को गलत ढंग से प्रस्तुत किया है; प्रस्तुत उदाहरण में अनित्य होना यह साध्य है, इस में कृतक होना यह हेतु है या उस का अभाव है आदि प्रश्न निरर्थक हैं, आक्षेप करनेवाले को यह बताना चाहिए कि जो कृतक होता है वह अनित्य होता है इस व्याप्ति में क्या दोष है, वह न बतला कर दूसरी कल्पनाएं करने से कोई लाभ नही)।

अन्यतरासिद्धसमा जाति

एकान्त, अनेकान्त आदि विकल्पों से हेतु को किसी एक पक्ष के लिए असिद्ध बतलाना यह अन्यतरासिद्धसमा जाति होती है। उदाहरणार्थ – पूर्वोक्त अनुमान में (शब्द अनित्य है क्यों कि वह कृतक है इस कथन में) यह कहना कि यहां कृतक होना यह हेतु एकान्त से है या अनेकान्तसे है, यदि वह एकान्त से हो तो जैनों के लिए वह असिद्ध होगा (क्यों कि जैन एकान्त को नही मानते) तथा यदि वह अनेकान्त से हो तो बाकी सब मतों के लिए असिद्ध होगा (क्यों कि जैनेतर मत अनेकान्त को नहीं मानते)। इसी तरह यह हेतु अक्षणिक है या क्षणिक है, यदि अक्षणिक हो तो बौद्धों के लिए वह असिद्ध होगा (क्यों कि बौद्ध सब वस्तुओं को क्षणिक मानते हैं) तथा यदि क्षणिक हो तो अन्य सब मतों को अमान्य होगा (क्यों कि
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

आद्ये बौद्धानामसिद्धः, द्वितीये अन्येषामसिद्धः। अब्रह्मात्मको ब्रह्मात्मको वा, आद्ये वेदान्तिनामसिद्धः, द्वितीये अन्येषामसिद्धः। अप्रकृतिपरिणामः प्रकृतिपरिणामो वा, आद्ये सांख्यानामसिद्धः, द्वितीये अन्येषामसिद्धः इत्यादि॥

[५६. प्राप्त्यप्राप्तिसमे]

हेतोः प्राप्त्या प्रत्यवस्थानं प्राप्तिसमा जातिः। अप्राप्त्या प्रत्यवस्थानम् अप्राप्तिसमा जातिः। अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदित्युक्ते अयं हेतुः

बौद्धेतर मत क्षणिकवाद को नही मानते)। यह हेतु ब्रह्मरूप है या अब्रह्मरूप है, यदि अब्रह्मरूप हो तो वह वेन्दान्तियों के लिए असिद्ध होगा (क्यों कि वे सभी वस्तुओं को ब्रह्मरूप मानते हैं) तथा ब्रह्मरूप हो तो अन्य सब मतों को अमान्य होगा। यह हेतु प्रकृति का परिणाम है या नही है, यदि यह प्रकृति का परिणाम नही है तो सांख्यों के लिए असिद्ध होगा तथा प्रकृति का परिणाम हो तो अन्य सब मतों के लिए असिद्ध होगा। (इस प्रकार का कथन वास्तविक दूषण न हो कर दूषणाभास अर्थात जाति है क्यों कि जो कृतक होता है वह अनित्य होता है इस मूलभूत व्याप्ति में कोई दोष इस से प्रकट नही होता; कृतक होना एकान्त से या अनेकान्त से है आदि प्रश्नों का प्रस्तुत अनुमान से कोई सम्बन्ध नही है)।

प्राप्तिसमा व अप्राप्तिसमा जाति

हेतु के (साध्य को) प्राप्त होने की आपत्ति उपस्थित करना प्राप्तिसमा जाति है। तथा अप्राप्त होने की आपत्ति उपस्थित करना अप्राप्तिसमा जाति है। उदाहरणार्थ – शब्द अनित्य है क्यों कि वह घट जैसा कृतक है इस अनुमान का प्रयोग करने पर प्रश्न करना कि यहां हेतु साध्य को प्राप्त हो कर उसे सिद्ध करता है या प्राप्त किये बिना ही सिद्ध करता है; यदि हेतु साध्य को प्राप्त हो कर उसे सिद्ध करे तो वह असिद्ध होगा क्यों कि वह अभी साध्य का प्राप्त होना है (जो साध्य में नही है वह हेतु असिद्ध होता है, यह हेतु अभी साध्य को प्राप्त नही हुआ है अतः असिद्ध है) जैसे साध्य का स्वरूप (साध्य का स्वरूप जिस तरह असिद्ध है उसी तरह यह हेतु भी असिद्ध होगा क्यों कि वह अभी साध्य को प्राप्त नही हुआ है)। यदि हेतु

प्राप्य साध्यं प्रसाधयत्यप्राप्य वा। आद्येऽसिद्धो हेतुः प्राप्यसाध्यत्वात् साध्यस्वरूपवत्। द्वितीये तौ साध्यसाधनभावरहितौ मिथोऽप्राप्तत्वात् सह्यविन्ध्यवदिति ॥

[५७. प्रसंगसमा]

प्रमाणादिप्रश्नानवस्थानं प्रसंगसमा जातिः। अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत् इत्युक्ते घटे कृतकत्वात् अनित्यत्वं केन सिद्धम्, प्रत्यक्षेणेत्युक्ते प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यं केन, अन्येनेत्युक्ते तस्यापि केनेत्यादि ॥

साध्य को प्राप्त किये बिना ही सिद्ध करता है ऐसा कहा जाय तो इस हेतु में और साध्य मे साध्यसाधन का संबन्ध नहीं हो सकेगा क्यों कि वे दोनों सह्य पर्वत और विन्ध्यपर्वत के समान परस्पर अप्राप्त (असंबद्ध) हैं। (ये आक्षेप वास्तविक दूषण न हो कर दूषणाभास अर्थात जाति हैं क्यो कि इन में हेतु और साध्य के स्वाभाविक संबंध को न समझते हुए अनावश्यक प्रश्न उपस्थित किये हैं; जहां धुंआ होता है वहां अग्नि होता है इस नियत संबन्ध के कारण ही धुंआ देखने पर अग्नि का अनुमान होता है, यहां धुंआ अग्नि को प्राप्त हो कर सिद्ध करता है या प्राप्त हुए बिना सिद्ध करता है आदि प्रश्न निरर्थक हैं।)

प्रसंगसमा जाति

प्रमाण आदि के प्रश्नों से अनवस्था प्रसंग उपस्थित करना (एक के बाद दूसरे प्रश्न को उपस्थित करते जाना) प्रसंगसमा जाति है। जैसे — शब्द अनित्य है क्यों कि वह कृतक है जैसे घट इस अनुमान के प्रस्तुत करने पर यह पूछना कि घट कृतक है अतः अनित्य है यह किस प्रमाण से सिद्ध हुआ है; यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है ऐसा उत्तर मिलने पर फिर पूछना कि वह प्रत्यक्ष प्रमाणभूत कैसे है, इस पर दूसरे प्रमाण का उल्लेख करनेपर फिर पूछना कि वह प्रमाणभूत कैसे है (इस प्रकार प्रश्नों की परम्परा से मूल विषय को टालना ही प्रसंगसमा जाति है)।

[५८. प्रतिदृष्टान्तसमा]

प्रत्युदाहरणेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमा जातिः। अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत् इत्युक्ते आकाशवदमूर्तत्वात् नित्योऽपि स्यादिति ॥

[५९. उत्पत्तिसमा]

कारणविघटनया कार्यानुत्पत्तिप्रत्यवस्थानम् उत्पत्तिसमा जातिः। पूर्वप्रयोगे शब्दादिकार्योत्पत्तेः प्राक् ताल्वादीनां कं प्रति करणत्वं, तदा

प्रतिदृष्टान्तसमा जाति

प्रतिकूल उदाहरण द्वारा उत्तर देना प्रतिदृष्टान्तसमा जाति होती है। जैसे- शब्द अनित्य है क्यों कि वह कृतक है जैसे घट इस अनुमान के विरोध में यह कहना कि शब्द आकाश के समान अमूर्त है अतः वह नित्य भी सिद्ध होगा (यहां जो कृतक होता है वह अनित्य होता है इस व्याप्ति पर आधारित हेतु के बारे में कुछ न कह कर केवल घट इस दृष्टान्त के प्रतिकूल आकाश यह दृष्टान्त उपस्थित कर दिया है अतः यह उचित दूषण नही है- प्रतिदृष्टान्तसमा जाति है)।

उत्पत्तिसमा जाति

कारण के विघटन द्वारा यह आपत्ति उपस्थित करना कि कार्य की उत्पत्ति ही नही हो सकती-उत्पत्तिसमा जाति होती है। उदाहरणार्थ- शब्द अनित्य है क्यों कि वह कृत्रिम है इस पूर्वोक्त अनुमान के विरोध में यह कहना कि शब्द इत्यादि कार्य के उत्पन्न होने के पहले तालु, होंठ इत्यादि किस के साधन होते हैं (-वे शब्द के कारण हैं ऐसा नही कहा जा सकता क्यों कि) उस समय संबद्ध कार्य का (शब्द का) अभाव है (शब्द अभी उत्पन्न नही हुआ है) अतः वे तालु आदि किसी के साधन नही हैं अतः वे कारण भी नही हैं। कारण ही नही है तो शब्द यह कार्य किस से उत्पन्न होगा (अर्थात वह उत्पन्न ही नही हो सकता) जिस से उसे अनित्य सिद्ध किया जा सके (शब्द उत्पन्न ही नहीं हुआ तो उसे अनित्य सिद्ध करना भी संभव नही है)। (इस जाति का प्रयोग करनेवाला कहता है कि कारण और कार्य दोनों एक ही समय होने चाहियें-तालु आदि तभी कारण होंगे जब शब्द हो -वह कारण और कार्य के क्रमशः होने को अस्वीकार करता

प्रतिबोधिकार्याभावात्, न किंचित् प्रतीति शब्दादीनां कारणभावाभावः। कारणाभावे शब्दकार्यं कुत उत्पद्येत यतोऽनित्यं स्यादिति ॥

[६०. संशयसमा]

भूयोदर्शनात् निश्चितव्याप्तेः साधर्म्यवैधर्म्योपाधिप्रतिकूलतर्कादिना पक्षे संदेहापादनं संशयसमा जातिः। उपाधिप्रतिकूलतर्कादिकम् असद् दूषणं सद्दूषणेष्वपठितत्वात् अन्यतरपक्षनिर्णयाकारकत्वात् व्याप्तिपक्षधर्मवैकल्यानिश्चायकत्वात् पक्षे साध्यसंदेहापादकत्वात् जातित्वात् साधर्म्यवत्। अथ प्रत्यनुमानप्रतिकूलतर्कयोः को भेद इति चेत् एकस्मिन् धर्मिणि साध्यविपरीतप्रसाधकं प्रत्यनुमानम्, तद्धर्मिणि धर्म्यन्तरे वा विरुद्धप्रसाधकः प्रतिकूलतर्कः ॥

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

है; किन्तु कारण और कार्य का क्रमशः होना प्रत्यक्षसिद्ध है अतः इस आक्षेप को जाति (दूषणाभास) कहते हैं, वास्तविक दूषण नही; जब शब्द प्रत्यक्ष द्वारा जाना जाता है तब शब्द उत्पन्न नही हो सकता यह आक्षेप काल्पनिक ही होगा, वास्तविक नही)।

संशयसमा जाति

बारबार देखने से जिस की व्याप्ति निश्चित हो चुकी है उस पक्ष में भी समानता, भिन्नता, उपाधि, प्रतिकूल तर्क आदि के द्वारा सन्देह व्यक्त करना यह संशयसमा जाति होती है। उपाधि, प्रतिकूलतर्क आदि झूठे दूषण हैं, वास्तविक दूषणों में इन का समावेश नही किया जाता, ये किसी एक पक्ष का निर्णय नही कर सकते, व्याप्ति की गलती या पक्ष के धर्म होने की गलती का निश्चय इन से नही हो सकता, वे केवल पक्ष में साध्य के होने के बारे में सन्देह व्यक्त करते हैं, अतः वे साधर्म्यसमा आदि के समान जाति हैं (झूठे दूषण हैं, वास्तविक दूषण नही हैं)। यहां प्रश्न होता है कि प्रत्यनुमान और प्रतिकूलतर्क में क्या भेद है (क्यों कि प्रत्यनुमान से विरोध करने को प्रकरणसमा जाति कहते हैं यह अगले परिच्छेद में बताया है)। उत्तर यह है कि एक ही धर्मी (धर्मयुक्त पक्ष) में साध्य के विरुद्ध बात को सिद्ध करना चाहे वह प्रत्यनुमान होता है, उसी धर्मी में या किसी अन्य धर्मी में विरुद्ध बात को सिद्ध करना चाहे वह प्रतिकूलतर्क होता है।
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

[६१. प्रकरणसमा]

प्रत्यनुमानेन प्रत्यवस्थानं प्रकरणसमा जातिः। अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदित्युक्ते नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति॥

[६२. अहेतुसमा]

त्रिकालेऽपि साधनासंभवेन प्रत्यवस्थानम् अहेतुसमा जातिः। पूर्वप्रयोगे अयं हेतुः साध्यात् प्राक्कालभावी उत्तरकालभावी समकाल-

---

प्रकरणसमा जाति

विरोधी अनुमान का प्रयोग कर उत्तर देना यह प्रकरणसम जाति है। जैसे – शब्द अनित्य है क्यो कि वह घट जैसा कृतक है इस अनुमान के उत्तर मे यह कहना कि शब्द नित्य है क्यों कि वह शब्दत्व के समान श्रावण (सुनने योग्य) है। (वादी द्वारा उपस्थित किये गए हेतु में दूषण बतलाना यह प्रतिवादी का पहला काम है, वह न करते हुए प्रतिकूल पक्ष का समर्थक अनुमान प्रस्तुत करना वाद की रीति के विरुद्ध है अतः इसे जाति अर्थात् झूठा दूषण कहा है)।

अहेतुसमा जाति

तीनों कालों में (हेतु से साध्य को) सिद्ध करना असंभव है यह कह कर (अनुमान का) विरोध करना यह अहेतुसमा जाति है। जैसे – पूर्वोक्त अनुमान में (शब्द कृतक है अतः अनित्य है इस कथन में) यह कहना कि यह हेतु (शब्द का कृतक होना) साध्य के (शब्द के अनित्य होने के) पहले के समय विद्यमान होता है, बाद के समय होता है या समान समय में होता है; यदि हेतु साध्य के पहले हो गया हो तो उस समय साध्य के न होने से हेतु किसे सिद्ध करेगा – अर्थात हेतु से सिद्ध करनेयोग्य साध्यही तब नही है; यदि हेतु साध्य के बाद होता है तो वह साध्य हेतु के पहले ही सिद्ध है फिर हेतु के प्रयोग से क्या लाभ; तथा यदि हेतु और साध्य समान समय में हैं तो उन में साध्यसाधन-संबंध नही हो सकता क्यों कि वे समकालीन हैं, जैसे गाय के दाहिने और बायें सींग में साध्यसाधनसंबन्ध नही हो सकता (एक सींग दूसरे का कारण

भावी वा। आद्ये प्राक्काले साध्याभावाद् हेतुः कस्य साधको भवेत्, न कस्यापि। द्वितीये साध्यस्य प्रागेव सिद्धत्वात् किमनेन हेतुना। तृतीये तौ साध्यसाधनभावरहितौ समकालभावित्वात् सव्येतरगोविषाणवदिति।

[६३. अर्थापत्तिसमा]

अर्थापत्त्या प्रत्यवस्थानम् अर्थापत्तिसमा जातिः। उदाहरणम्—अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदित्युक्ते संकेतव्यवहारान्यथानुपपत्तेः शब्दो नित्यः स्यादिति॥

[६४. अविशेषसमा]

एतद्धर्माविशेषेण प्रतिकूलप्रसंगः अविशेषसमा जातिः। उदाहरणम्—अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवदिति प्रसाध्येत तर्हि अनित्य-

नहीं हो सकता) क्यों कि वे दोनों समान समय में विद्यमान हैं। (इन आक्षेपों को जाति इसलिए कहा कि उन में कोई तथ्य नहीं है, हेतु साध्य से पहले है या बाद में इससे अनुमान के सही होने में कोई अन्तर नहीं पडता; कृत्तिका के उदय से रोहिणी के उदय का अनुमान सही है, यहां हेतु साध्य से पहले विद्यमान है; बाढ से वर्षा का अनुमान सही होता है, यहां हेतु साध्य के बाद भी विद्यमान है; धुंए से अग्नि के अनुमान में हेतु और साध्य दोनों एक ही समय में विद्यमान होते हैं)।

अर्थापत्तिसमा जाति

अर्थापत्ति का प्रयोग कर के उत्तर देना यह अर्थापत्तिसमा जाति है। जैसे-शब्द अनित्य है क्यों कि वह घट जैसा कृतक है इस अनुमान के उत्तर में यह कहना कि शब्द नित्य है क्यों कि ऐसा माने बिना संकेतों के व्यवहार की उपपत्ति नही लगती। (आगे परिच्छेद १९ में आचार्य ने इस जाति को प्रकरणसमा जाति से अभिन्न बतलाया है)।

अविशेषसमा जाति

उसी गुणधर्म की समानता बतला कर विरोध का प्रसंग व्यक्त करना यह अविशेषसमा जाति है। जैसे-शब्द अनित्य है क्यों कि वह घट जैसा कृतक है ऐसा सिद्ध किया जाने पर यह कहना कि घट के समान सत् (विद्य-

आकाशादिकं सत्त्वात् घटवन्नित्यादिकं स्यादिति। अयमेव प्रतिकूलतर्क इति ज्ञातव्यः॥

[६५. उपपत्तिसमा]

उभयत्रैकहेतूपपत्त्या प्रत्यवस्थानम् उपपत्तिसमा जातिः। अनित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोः अन्यतरत्वात् सपक्षवत्, नित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोः अन्यतरत्वात् सपक्षवदिति। नित्या भूः गन्धवत्त्वात्, अनित्या भूः गन्धवत्त्वात् इत्यादि॥

[६६. उपलब्ध्यनुपलब्धिसमे]

सपक्षे हेतुरहितसाध्योपलब्ध्या प्रत्यवस्थानम् उपलब्धिसमा जातिः। अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदित्युक्ते प्रागभावे कृतकत्वा-

---

मान) होने से आकाश आदि भी अनित्य सिद्ध होंगे। इसी को प्रतिकूलतर्क भी कहते हैं। (यह जाति अर्थात झूठा दूषण है क्यों कि इस में शब्द अनित्य है इस साध्य के बारे में कुछ न कह कर आकाश अनित्य सिद्ध होगा यह प्रस्तुत विषय से असंबद्ध बात उठाई गई है, यह स्पष्टतः विषयान्तर है)।

उपपत्तिसमा जाति

दोनों पक्षों में एक ही हेतु की उपपत्ति बतला कर उत्तर देना यह उपपत्तिसमा जाति होती है। जैसे – शब्द अनित्य है क्यों कि वह पक्ष और सपक्ष में से किसी एक में विद्यमान है जैसे सपक्ष, शब्द नित्य है क्यों कि वह पक्ष और सपक्ष में से किसी एक में विद्यमान है जैसे सपक्ष। (दूसरा उदाहरण –) पृथ्वी नित्य है क्यों कि वह गन्ध से युक्त है, पृथ्वी अनित्य है क्यों कि वह गन्ध से युक्त है।

उपलब्धिसमा तथा अनुपलब्धिसमा जातियां

सपक्ष में जहां साध्य पाया जाता है किन्तु हेतु नही पाया जाता ऐसा उदाहरण दे कर आक्षेप उपस्थित करना यह उपलब्धिसमा जाति होती है। जैसे–शब्द अनित्य है क्यों कि वह घट जैसा कृतक है इस अनुमान के उत्तर में कहना कि प्रागभाव कृतक नही है फिर भी उस में अनित्यता पाई जाती है अतः कृतक होना अनित्य होने का बोधक कैसे होगा? (यह वास्तविक

भावेऽपि अनित्यत्वं दृश्यते, कथमेतद् गमकं स्यादिति ॥ अनुपलब्धेरभावे साध्ये अनुपलब्धेरप्यनुपलम्भेन प्रत्यवस्थानम् अनुपलब्धिसमा जातिः। उदाहरणम् — शब्द उच्चारणात् पूर्वं नास्ति अनुपलब्धेः इत्युक्ते अनुपलब्धेरप्यनुपलम्भ एव इन्द्रियलिङ्गशब्दानामनुपलब्धिसम्बन्धरहितत्वेन तद्ग्रहणायोगादिति ॥

[६७. नित्यानित्यसमे]

पक्षस्यानित्यधर्मस्य नित्यत्वापादनेन प्रत्यवस्थानं नित्यसमा जातिः। अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदित्युक्ते शब्दे अनित्यत्वं सर्व-

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

दूषण नही है क्यों कि इस मे व्याप्ति के सही रूप को न समझते हुए आक्षेप किया है। जो कृतक होते हैं वे अनित्य होते हैं ऐसी व्याप्ति इस अनुमान में है किन्तु आक्षेप करनेवाला कह रहा है कि जो अनित्य हैं वे सभी कृतक होने चाहिएं, यह ठीक नही है)। किसी वस्तु का अभाव सिद्ध करने के लिए अनुपलब्धि (न पाया जाना) यह हेतु दिये जाने पर अनुपलब्धि की भी अनुपलब्धि है यह कह कर उत्तर देना अनुपलब्धिसमा जाति होती है। जैसे–उच्चारण के पहले शब्द नही है क्यों कि वह ज्ञात नही होता ऐसा कहने पर आक्षेप करना कि यहां शब्द ज्ञात नही होता यह बात भी ज्ञात नही हो सकती क्यों कि यह अनुपलब्धि इन्द्रियप्रत्यक्ष से अथवा अनुमान से अथवा शब्द से (आगम से) भी ज्ञात नही हो सकती-अनुपलब्धि का इन्द्रिय प्रत्यक्ष आदि से सम्बन्ध ही नही होता (यह जाति है – वास्तविक दूषण नही है क्यों कि इस में किसी वस्तु के अभाव का ज्ञान ही अस्वीकार किया गया है, वस्तु के अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही होता है यह बात आक्षेपकर्ता भूल गया है। वस्तु के अभाव का अभाव है यह कहने का तात्पर्य होगा कि वस्तु का अस्तित्व है और यह बात प्रत्यक्ष से ही ज्ञात होती है)।

नित्यसमा तथा अनित्यसमा जाति

पक्ष के अनित्य गुणधर्म को नित्य बतला कर उत्तर देना यह नित्यसमा जाति होती है। उदाहरणार्थ – शब्द अनित्य है क्यों कि वह कृतक है जैसे घट इस अनुमान के प्रस्तुत करने पर यह कहना कि शब्द में अनित्यत्व सर्वदा
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

दास्ति कदाचिद् वा। आद्ये शब्दस्यापि सर्वदा सद्भावः। धर्मसद्भावस्य धर्मिसद्भावमन्तरेण अनुपपत्तेः। द्वितीये सदा अनित्यधर्मो न प्रवर्तते तदा नित्य एवेति॥ एकस्यानित्यत्वे सर्वस्य अनित्यत्वप्रतिपादनम् अनित्यसमा जातिः। प्राक्तनप्रयोगे सर्वमनित्यं सत्त्वात् घटवदिति॥

[६८. कार्यसमा]

कार्यत्वादिहेतूनां संदिग्धासिद्धत्वापादनं कार्यसमा जातिः।

होता है या कभी कभी होता है, प्रथम पक्ष में (यदि शब्द में अनित्यत्व सर्वदा होता हो तो) शब्द का भी अस्तित्व सर्वदा सिद्ध होगा क्यों कि गुणधर्म का अस्तित्व धर्मी के अस्तित्व के बिना नही हो सकता (अतः यदि अनित्यत्व यह गुण सर्वदा रहेगा तो उस का धारक शब्द भी सर्वदा रहेगा अर्थात वह नित्य सिद्ध होगा); दूसरे पक्ष में (यदि शब्द में अनित्यत्व कभी कभी रहता है तो) जब शब्द में अनित्यत्व यह गुणधर्म नही होगा तब वह नित्य ही सिद्ध होगा (यह भी वास्तविक दूषण नही है; शब्द अनित्य है ऐसा वादी ने कहा तभी यह गृहीत हो जाता है कि जिस शब्द का एक समय अस्तित्व है – उसका दूसरे समय अभाव होगा, अतः उस में यह पूछना कि अनित्यत्व सर्वदा रहेगा या कभी कभी – निरर्थक है)। एक वस्तु को अनित्य बतलाने पर सभी को अनित्य बतलाना यह अनित्यसमा जाति होती है। जैसे – पूर्वोक्त अनुमान में (शब्द अनित्य है यह कहने पर) कहना कि सभी वस्तुएं अनित्य हैं क्यों कि वे सत् हैं जैसे घट। (परि. ६६ में आचार्य ने बतलाया है कि यह जाति अविशेषसमा जाति से भिन्न नही है)।

कार्यसमा जाति

कार्यत्व इत्यादि हेतुओं को संदिग्धासिद्ध बतलाना यह कार्यसमा जाति होती है। जैसे पूर्वोक्त अनुमान में (शब्द अनित्य है क्यों कि वह कृतक है जैसे घट) यह कहना कि शब्द का कृतक होना संदिग्ध है क्यों कि तालु आदि शब्द के कारण हैं अथवा केवल व्यक्त करनेवाले हैं इस विषय में वादियों में मतभेद है अतः (शब्द कृतक है या नही इस विषय में) सन्देह होता है। (यह जाति है अर्थात वास्तविक दूषण नही है क्यों

प्राक्तनप्रयोगो शब्दे कृतकत्वं संदिग्धं ताल्वादीनां कारणत्वं व्यञ्जकत्वं वेति वादिविप्रतिपत्तेः संदेहादिति। इति जातयः॥

[६९. जातिसंख्याविचारः]

वर्ण्ये साध्यस्य संभूतेः पृथग् नास्य निरूपणम्।
प्रत्युदाहरणं चापि साधर्म्ये लब्धवृत्तिमत्॥ १२॥
अर्थापत्त्युपपत्ती चाभिन्ने प्रकरणादिह।
अनित्यत्वसमाजातिरविशेषान्न भिद्यते॥ १३॥
इति पञ्चापसारेणासिद्धाद्युपचयेन च।
जातयो विंशतिस्ताः स्युः पुनरुक्तिं विना पुनः॥ १४॥

[७०. निग्रहस्थानानि]

वादिप्रतिवादिनोः अन्यतरस्य पराजयनिमित्तं निग्रहस्थानम्। प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासः हेत्वन्तरम् अर्थान्तरं-निरर्थकम् अविज्ञातार्थम् अपार्थकम् अप्राप्तकालं हीनम् अधिकम् पुनरु

कि यहां प्रस्तुत हेतु में कोई स्पष्ट दोष न बतला कर केवल वादियों के मतभेद पर आधारित संदेह को महत्त्व दिया है)। इस प्रकार जातियों का वर्णन पूरा हुआ।

जातियों की संख्या

वर्ण्यसमा जाति में साध्यसमा जाति का अन्तर्भाव होता है अतः उस का पृथक वर्णन नहीं करना चाहिए; प्रत्युदाहरण जाति का समावेश साधर्म्य-समा जाति में होता है; अर्थापत्तिसमा तथा उपपत्तिसमा जातियां प्रकरणसमा जाति से भिन्न नहीं हैं तथा अनित्यसमा जाति अविशेषसमा जाति से भिन्न नहीं है। इस प्रकार पुनरुक्ति छोडकर पांच जातियों को कम करने से तथा असिद्धादिसमा जाति का अधिक समावेश करने से जातियोंकी संख्या बीस होती है।

निग्रहस्थान

वादी और प्रतिवादी में से किसी एक के पराजय का जो कारण होता है उसे निग्रहस्थान कहते हैं। प्रतिज्ञाहानि से हेत्वाभास तक (जो नाम मूल

कम् अननुभाषणम् अज्ञानम् अप्रतिभा विक्षेपः मतानुज्ञा पर्यनुयोज्यो-पेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगः अपसिद्धान्तः हेत्वाभासाश्चेति द्वाविंशति-निग्रहस्थानानि ॥

[७१. प्रतिज्ञाहानिः]

उक्ते हेतौ दूषणोद्भावने प्रतिपक्षाभ्युपगमः प्रतिज्ञाहानिर्नाम निग्रह-स्थानम्। तस्योदाहरणम्-अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदित्युक्ते प्रध्वंसाभावेन हेतोः अनेकान्तोद्भावने नित्यो भवेदिति ॥

[७२. प्रतिज्ञान्तरम्]

सिद्धसाध्यत्वेन हेतोः अकिंचित्करत्वोद्भावने पश्चात् साध्यविशेष-णोपादानं प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानम्। उदाहरणम्-आद्यं चैतन्यं

में गिनाये हैं वे) बाईस निग्रहस्थान होते हैं (इन का क्रमशः वर्णन अब करेंगे)।

प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थान

कहे हुए हेतु में दोष बतलाने पर प्रतिपक्ष को स्वीकार कर लेना यह प्रतिज्ञाहानि नाम का निग्रहस्थान है। उस का उदाहरण है-शब्द अनित्य है क्यों कि वह घट जैसा कृतक है इस अनुमान के प्रयोग में हेतु में प्रध्वंसाभाव से अनेकान्त-दोष बतलाने पर (प्रध्वंसाभाव कृतक है किन्तु अनित्य नही है अतः कृतकत्व यह हेतु प्रध्वंसाभाव इस नित्य विपक्ष में भी होने से अनैकान्तिक है ऐसा कहने पर) यह कहना कि शब्द नित्य होना चाहिए।

प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थान

साध्य के पहले ही सिद्ध होने के कारण हेतु को अकिंचित्कर बतलाये जाने के बाद साध्य में किसी विशेषण का ग्रहण करना यह प्रतिज्ञान्तर नाम का निग्रहस्थान है। उदाहरण – पहला (जन्मसमय का) चैतन्य चैतन्यपूर्वक होता है (चैतन्यसे ही चैतन्य उत्पन्न होता है) क्यों कि वह चेतना का विवर्त है जैसे कि मध्यकालीन चेतना-विवर्त होता है इस अनुमान के प्रयोग करने पर पहले (जन्मसमय के) चैतन्य के पहले माता-पिता का चैतन्य होता ही है यह स्वीकृत है अतः पहला

चैतन्यपूर्वकं चिद्विवर्तत्वात् मध्यचिद्विवर्तवदित्युक्ते आद्यचैतन्यस्य मातापितृचैतन्यपूर्वकत्वाङ्गीकारात् लिङ्गसाध्यत्वेन हेतोः अकिंचित्कर-त्वोद्भावने पश्चात् आद्यं चैतन्यम् एकसंतानचैतन्यपूर्वकं चिद्विवर्तत्वात् मध्यचिद्विवर्तवदित्यादि ॥

[७३. प्रतिज्ञाविरोधः]

धर्मधर्मिविरोधः प्रतिज्ञाविरोधो नाम निग्रहस्थानम्। सर्वज्ञो न किंचिद् जानाति जिज्ञासारहितत्वात् सुषुप्तवदित्यादि। केचित् साध्य-साधनयोः विरोधं प्रतिज्ञाविरोधमाचक्षते, तन्मतेऽस्य विरुद्धहेत्वाभास-त्वेनैव निग्रहत्वात् ॥

[७४. प्रतिज्ञासंन्यासः]

उक्ते हेतौ दूषणोद्भावने स्वसाध्यपरित्यागः प्रतिज्ञासंन्यासो नाम

चैतन्य चैतन्यपूर्वक होना है यह साध्य पहले ही सिद्ध है अतः यहां हेतु अकिंचित्कर (व्यर्थ) है ऐसा कहने पर फिर यह कहना कि पहले (जन्मसमय के) चैतन्य के पहले एक ही सन्तान का चैतन्य होता है क्यों कि वह चेतना का विवर्त है जैसे कि मध्यकालीन चेतनाविवर्त होता है (यहां पहली प्रतिज्ञा यह थी कि पहला चैतन्य चैतन्यपूर्वक होता है, बाद मे इस प्रतिज्ञा को बदल कर यह स्वरूप दिया गया कि पहला चैतन्य तथा उस के पहले का चैतन्य एकही सन्तान के – एकही व्यक्तित्व के होने चाहिएं अतः यह प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थान हुआ)।

प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थान

धर्म (गुण) और धर्मी (गुणवान्) में विरोध होना यह प्रतिज्ञा-विरोध नाम का निग्रहस्थान है। जैसे–सर्वज्ञ कुछ नही जानता क्यों कि वह सोए हुए व्यक्ति के समान जिज्ञासारहित है (यहां सर्वज्ञ अर्थात जो सब जानता है वह धर्मी है, उस का कुछ न जानना इस धर्म से स्पष्ट ही विरोध है अतः यह प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थान हुआ)।

प्रतिज्ञासंन्यास निग्रहस्थान

हेतु बतलाने पर दूषण दिखलाने पर अपने साध्य को छोड देना यह प्रतिज्ञासंन्यास नाम का निग्रहस्थान है। जैसे–शब्द अनित्य है क्यों कि वह

निग्रहस्थानम्। अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदित्युक्ते प्रध्वंसाभावेन हेतोः अनेकान्तोद्भावने नाहं शब्दमनित्यं ब्रवीमीत्यादि ॥

[७५. हेत्वन्तरम्]

अविशेषे हेतौ व्यभिचारेण प्रतिषिद्धे पश्चाद् विशेषणोपादानं हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थानम्। उदाहरणम्—पूर्वप्रयोगे पूर्ववदनेकान्तोद्भावने पश्चाद् अनित्यः शब्दः भावत्वे सति कृतकत्वाद् घटवदित्यादि ॥

[७६. अर्थान्तरम्]

प्रकृतप्रमेयानुपयोगिवचनम् अर्थान्तरं नाम निग्रहस्थानम्। उदाहरणम्

कृतक है जैसे घट इस अनुमान के प्रस्तुत करने पर हेतु में प्रध्वंसाभाव से अनेकान्त बतलाया गया (प्रध्वंसाभाव कृतक होने पर भी नित्य है अतः कृतकत्व यह हेतु नित्य और अनित्य दोनों पदार्थों में पाया जाता है—वह अनैकान्तिक है ऐसा कहा गया) तब मैं शब्द को अनित्य नहीं कहता ऐसा कहना (प्रतिज्ञासंन्यास होगा, शब्द अनित्य है यह वादी की प्रतिज्ञा थी उस से वह मुकरता है यही प्रतिज्ञासंन्यास है)।

हेत्वन्तर निग्रहस्थान

विशेषणरहित हेतु का प्रयोग करने पर (प्रतिवादी द्वारा) व्यभिचार-दोष दिखलाने पर (हेतु में) विशेषण का स्वीकार करना यह हेत्वन्तर नाम का निग्रहस्थान है। जैसे—उपर्युक्त अनुमान में (शब्द अनित्य है क्यों कि वह कृतक है जैसे घट) उपर्युक्त प्रकार से अनेकान्त – दोष बतलाने पर (प्रध्वंसाभाव कृतक है किन्तु नित्य है अतः कृतकत्व यह हेतु नित्य और अनित्य दोनों पदार्थों मे पाया जाता है अतः वह अनैकान्तिक है) यह कहना कि शब्द अनित्य है क्यों कि वह भाव है तथा कृतक है जैसे घट (यहां मूल हेतु कृतकत्व मे भावत्व के साथ होना यह विशेषण अधिक जोड़ा है अतः यह हेत्वन्तर निग्रहस्थान हुआ)।

अर्थान्तर निग्रहस्थान

प्रस्तुत विषय के लिए निरुपयोगी बातें कहना यह अर्थान्तर नाम का निग्रहस्थान है जैसे—शब्द अनित्य है, क्यों कि वह कृतक है यह हेतु है, हेतु

अनित्यः शब्दः, कृतकत्वादिति हेतुः, हेतुश्च हिनोतेस्तुन्प्रत्यये उणादिकं पदं तस्य लिङ्गसंज्ञानन्तरं स्यात् व्युत्पत्तिः, हेतुः हेतू हेतवः इत्यादि ॥

[७७. निरर्थकम्]

अर्थरहितशब्दमात्रोच्चारणं निरर्थकं नाम निग्रहस्थानम् । उदाहरणम्– अनित्यः शब्दः अवहडमठपरतत्वात् नयभजखगसद्चलवदित्यादि ॥

[७८. अविज्ञातार्थकम्]

वादिना त्रिरुपन्यस्तमपि परिषत्प्रतिवादिभिः अविज्ञायमानम् अविज्ञातार्थकम् नाम निग्रहस्थानं वादिनः । प्रतिवादिनोऽप्येवम् ॥

शब्द हि धातु को उणादि तुन् प्रत्यय लगाने से बना है, उस की व्युत्पत्ति लिङ्ग और संज्ञा के बाद होती है, (प्रथमा में उस के रूप हैं –) हेतुः हेतू हेतवः (यहां हेतु शब्द का व्याकरण बतलाना अर्थान्तर है क्यों कि इस का शब्द के अनित्य होने से कोई संबंध नही है – साध्य के लिए यह निरुपयोगी है) ।

निरर्थक निग्रहस्थान

बिना अर्थ के केवल ध्वनि का उच्चारण करना यह निरर्थक नाम का निग्रहस्थान है । जैसे–शब्द अनित्य है क्यों कि वह नयभजखगसद्चल जैसा अवहडमठपरत है (यहां अवहडमठपरत तथा नयभजखगसद्चल बिना अर्थ के केवल ध्वनि हैं अतः यह निरर्थक निग्रहस्थान हुआ) ।

अविज्ञातार्थक निग्रहस्थान

वादी के तीन बार कहने पर भी जिस को सभा तथा प्रतिवादी न समझ सकें उसे वादी के लिए अविज्ञातार्थक नाम का निग्रहस्थान कहना चाहिये । इसी प्रकार प्रतिवादी के लिए भी निग्रहस्थान होगा (यदि उस के तीन बार कहने पर भी वादी और सभा उसे न समझ पावे) ।

[७९. अपार्थकम्]

समुदायार्थापरिज्ञानम् अपार्थकं नाम निग्रहस्थानम्। अग्निः कृष्णो वायुत्वात् जलवत्।

समुद्रः पीयते मेघैः अहमद्य जरातुरः।
अमी गर्जन्ति पर्जन्या हरेरैरावतः प्रियः॥ १५॥ इत्यादि।

[८० अप्राप्तकालम्]

अवयवविपर्यासवचनम् अप्राप्तकालं नाम निग्रहस्थानम्। घटवत् कृतकत्वादनित्यः शब्दः इत्यादि॥

अपार्थक निग्रहस्थान

(शब्दों के) समूह के अर्थ का ज्ञान न होना यह अपार्थक नाम का निग्रहस्थान है। जैसे – अग्नि काला है क्यों कि वह वायु है जैसे जल (यहां अग्नि, कृष्ण, वायु और जल ये चारों शब्द सार्थ होने पर भी उन के समूह का कोई अर्थ संगत नही हो सकता)। समुद्र मेघों द्वारा पिया जाता है, मैं अब बुढापे से पीडित हूं, ये बादल गरज रहे है, इन्द्र को ऐरावत प्रिय है (यहां चारो वाक्यखंड सार्थ होने पर भी उन के समूह में अर्थ की कोई संगति नही है अतः यह अपार्थक निग्रहस्थान हुआ)।

अप्राप्तकाल निग्रहस्थान

(अनुमान वाक्य के) अवयवों को उलट-पलट कर कहना यह अप्राप्तकाल नाम का निग्रहस्थान है। जैसे – घट के समान कृतक होने से अनित्य है शब्द (यहां शब्द यह पक्ष अन्त में, अनित्य होना यह साध्य उस के पहले, कृतक होना यह हेतु उस के पहले तथा घट यह दृष्टान्त प्रारंभ में कहा है; अनुमान वाक्य की रीति के अनुसार इन का क्रम ठीक उलटा अर्थात पक्ष–साध्य–हेतु–दृष्टान्त इस प्रकार होना चाहिए; अतः क्रम ठीक न होने से यह अप्राप्तकाल निग्रहस्थान हुआ)।

[८१. हीनम्]

अन्यतमेन अवयवेन न्यूनं हीनं नाम निग्रहस्थानम्। अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, यो यः कृतकः स सर्वोऽप्यनित्यः, यथा घटः, कृतकश्चायं शब्द इति ॥

[८२. अधिकम्]

द्व्यादिहेतुदृष्टान्तमधिकं नाम निग्रहस्थानम्। आकाशं बाह्येन्द्रियग्राह्यगुणरहितं नित्यत्वात् निरवयवत्वात् स्पर्शरहितत्वात् कालवत् आत्मवत् इत्यादि ॥

[८३. शेषाणि निग्रहस्थानानि]

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तं नाम निग्रहस्थानम् अन्यत्रानुवादात्। परिषदा ,परिज्ञातस्य वादिना त्रिरुपन्यस्तस्याप्रत्युच्चारणम् अननुभाषणं

हीन निग्रहस्थान

अनुमान का वाक्य किसी एक अवयव से न्यून हो तो वह हीन नामक निग्रहस्थान होता है। जैसे-शब्द अनित्य है क्यों कि वह कृतक है, जो जो कृतक होता है वह सभी अनित्य होता है, जैसे घट, और यह शब्द कृतक है। (यहां अनुमान के वाक्य में अन्तिम अवयव निगमन-इस लिए शब्द अनित्य है - का प्रयोग नही किया गया है अतः यह हीन निग्रहस्थान हुआ)।

अधिक निग्रहस्थान

दो या अधिक हेतुओं तथा दृष्टान्तों का प्रयोग करना यह अधिक नाम का निग्रहस्थान है। जैसे - आकाश में बाह्य इन्द्रियों से ग्राह्य गुण नहीं हैं क्यों कि वह काल के समान और आत्मा के समान नित्य है, अवयवरहित है तथा स्पर्शरहित है (यहां नित्यत्व, निरवयत्व, स्पर्शरहितत्व इन तीन हेतुओं का तथा काल और आत्मा इन दो दृष्टान्तों का प्रयोग किया गया है अतः यह अधिक निग्रहस्थान हुआ)।

शेष निग्रहस्थान

किसी शब्द या अर्थ का दुबारा प्रयोग करना यह पुनरुक्त नामक

नाम निग्रहस्थानम्। साधनप्रयोगे दूषणापरिज्ञानं दूषणोद्भावने परिहाराप्रतिपत्तिः अप्रतिभा नाम निग्रहस्थानम्। व्यासंगाद् भीतेः अप्रतिभादेः वा प्रारब्धकथाविच्छेदो विक्षेपो नाम निग्रहस्थानम्। स्वपक्षोक्तदोषमपरिहृत्य परपक्षे दोषमुद्भावयतो मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानम्। प्राप्तदोषानुद्भावनं पर्यनुयोज्योपेक्षणं नाम निग्रहस्थानम्। दोषरहितस्य दोषोद्भावनं निरनुयोज्यानुयोगो नाम निग्रहस्थानम्। स्वीकृतागमविरुद्धप्रसाधनम् अपसिद्धान्तो नाम निग्रहस्थानम्। असिद्धादयो हेत्वाभासा नाम निग्रहस्थानानि ॥

[८४. निग्रहस्थानोपसंहारः]

लिङ्गकारककालादिस्खलनं निग्रहो भवेत्।
तत्प्रतिज्ञाभ्युपेतस्य नान्यस्य सुखवादिनः ॥ १६ ॥

निग्रहस्थान होता है, किन्तु (प्रतिवादी के कथन का खंडन करनेके लिए) दुहराना यह निग्रहस्थान नही होता। जिसे सभा ने समझ लिया हो तथा वादी ने तीनबार जिस का उच्चारण किया हो उसे न दुहरा सकना यह अननुभाषण नामका निग्रहस्थान होता है। (प्रतिपक्षी द्वारा) किसी साधन (हेतु) का प्रयोग किये जाने पर उस में दूषण न सूझना तथा (प्रतिपक्षी द्वारा) दूषण दिये जाने पर उस का उत्तर न सूझना यह अप्रतिभा नामका निग्रहस्थान होता है। (अन्य विषय में) रुचि होने से, (पराजय के) डरसे या उत्तर न सूझने से शुरू की हुई चर्चा को रोक देना यह विक्षेप नाम का निग्रहस्थान होता है। अपने पक्ष में बताये गये दोष का उत्तर न देकर प्रतिपक्ष में दोष बताना यह मतानुज्ञा नाम का निग्रहस्थान होता है। (प्रतिपक्ष में) प्राप्त हुए दोष को न बतलाना यह पर्यनुयोज्योपेक्षण नाम का निग्रहस्थान होता है। निर्दोष कथन में दोष बतलाना यह निरनुयोज्यानुयोग नाम का निग्रहस्थान होता है। अपने द्वारा मान्य आगम के विरुद्ध तत्त्व को सिद्ध करना यह अपसिद्धान्त नाम का निग्रहस्थान होता है। असिद्ध इत्यादि हेत्वाभास नाम के निग्रहस्थान हैं (जिन का विस्तार से वर्णन पहले हो चुका है)।

निग्रहस्थान चर्चा का समारोप

जिस ने वैसी प्रतिज्ञा की हो उस वादी के लिए लिंग, कारक, काल

तथा साधनदूषणानुपयोगिनां प्रतिभाक्षयकारिणां कलह-गालिप्रदान सहभाषण-वृथाप्रहसन-कपोलवादन-तलप्रहार-शिरःकम्पन- ऊरुताडन -नर्तन-उत्पतन-आस्फोटनादीनामपि निग्रहस्थानत्वम् ॥

[८५. छलादिप्रयोगनियमः]

स्वयं नैव प्रयोक्तव्याः सभामध्ये छलादयः ।
परोक्तास्तु निराकार्या वादिना ते प्रयत्नतः ॥ १७ ॥
यदा सदुत्तरं नैव प्रतिभासेत वादिनः ।
प्राप्ते पराजये नित्यं प्रयोक्तव्याश्छलादयः ॥ १८ ॥
छलाद्युद्भावने शक्तः प्रतिवादी भवेद् यदि ।
वादी पराजितस्तेन नो चेत् साम्यं तयोर्भवेत् ॥ १९ ॥

[८६. वादः]

उक्तानि साधनदूषणानि । तैः क्रियमाणो वाद उच्यते ।

आदि की गलती भी निग्रहस्थान होती है, सुखपूर्वक वाद करनेवाले अन्य वादी के लिए वह निग्रहस्थान नहीं होती । इसी प्रकार पक्ष के साधन या दूषण के लिए अनुपयोगी एवं प्रतिभा को कम करनेवाले झगडे, गाली देना, साथ बोलना, फालतू हंसना, गाल बजाना, ताली बजाना, सिर हिलाना, छाती पीटना, नाचना, उडना, चिल्लाना आदि को भी निग्रहस्थान समझना चाहिए ।

छल आदि के प्रयोग के नियम

सभा में स्वयं छल आदि का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिए किन्तु प्रतिवादी द्वारा उन का प्रयोग किये जाने पर वादी को प्रयत्नपूर्वक उन का निराकरण करना चाहिए । जब वादीको सही उत्तर सूझता ही न हो तथा पराजय का प्रसंग आया हो तब हमेशा छल आदि का प्रयोग करना चाहिए। यदि प्रतिवादी छल आदि को स्पष्ट बतला सके तो उस के द्वारा वादी पराजित होता है, अन्यथा दोनों में समानता रहती है ।

वाद

अब तक साधन और दूषणों का वर्णन किया । अब उन के लिये

विवादपदमुद्दिश्य वचोभिर्युक्तयुक्तिभिः।
अङ्गीकृतागमार्थानां वचनं वाद उच्यते ॥ २० ॥

वादस्य स्वपक्षसाधनं साधनसमर्थनं परपक्षदूषणं दूषणसमर्थनं शब्ददोषवर्जनमिति अवयवाः पञ्च। अपशब्दापप्रयोगानन्वयदुरन्वयाप्रसिद्धापदानीति शब्ददोषाः पञ्च। तत्र वक्ष्यमाणभाषा बोद्धा।

प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च शौरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ॥ २१ ॥

प्रतिवाद्यभिवाञ्छया एवंविधयुक्तियुक्तभाषाभिः अभिप्रेतार्थवादनं वादः।

वादं त्रिधा वदिष्यन्ति व्याख्यागोष्ठीविवादतः।
गुरुविद्वज्जिगीषूणां शिष्यशिष्टप्रवादिभिः ॥ २२ ॥

जानेवाले वाद का वर्णन करते हैं। विवाद के विषय को लेकर उचित युक्तियों के वाक्यों द्वारा अपने द्वारा स्वीकृत आगम (शास्त्र) के अर्थ का वर्णन करना यह वाद कहलाता है। वाद के पांच अवयव हैं – अपने पक्ष की सिद्धि करना, उसके साधनों का समर्थन करना, प्रतिपक्ष के दूषण बतलाना, उन दूषणों का समर्थन करना तथा शब्द के दोषों से दूर रहना। शब्द के दोष पांच प्रकार के है – अपशब्द, अपप्रयोग (गलत प्रयोग), अनन्वय (असंबद्ध प्रयोग), दुरन्वय (जिसका संबन्ध समझना कठिन हो वह प्रयोग) तथा अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग। वाद में बोली जानेवाली भाषाएं छह प्रकार की हैं – प्राकृत, संस्कृत, मागध, पिशाच, शौरसेनी तथा छठवीं भाषा अपभ्रंश, जिसके भिन्न भिन्न प्रदेशों के कारण बहुतसे प्रकार हुए हैं। इस प्रकार की युक्तिसंगत भाषाओं द्वारा प्रतिवादी की इच्छानुसार अपने संमत अर्थ को कहना यह वाद है। वाद के तीन प्रकार हैं – व्याख्यावाद, जो गुरु शिष्य के साथ करता है; गोष्ठीवाद, जो विद्वान शिष्ट लोगों के साथ करता है; तथा विवादवाद, जो विजय की इच्छा करनेवाला वादी प्रतिवादी के साथ करता है – ये वे तीन प्रकार हैं।

[८७. व्याख्यावादः]

तत्र व्याख्यावादे—

कुर्यात् सदाग्रहं शिष्यो विचारे शास्त्रगोचरे।
बुभुत्सुस्तत्त्वयाथात्म्यं न कदाचिद् दुराग्रहम् ॥ २३ ॥
सदाग्रहः प्रमाणेन प्रसिद्धार्थे दृढाग्रहः।
दुराग्रहो मनोभ्रान्त्या बाधितार्थे दृढाग्रहः ॥ २४ ॥
सत्साधनेन पक्षस्य स्वकीयस्य समर्थनम।
सद्दूषणैर्विपक्षस्य तिरस्कारो गुरोः क्रिया ॥ २५ ॥

सत्साधनदूषणे कीदृक्षे इत्युक्ते वक्ति–

व्याप्तिमान् पक्षधर्मश्च सम्यक्साधनमुच्यते।
तद्वैकल्यविभावस्तु सम्यग्दूषणमुच्यते ॥ २६ ॥
असिद्धादयः साधनाभासाः। छलादयो दूषणाभासाः।

व्याख्यावाद

व्याख्यावाद मे शास्त्रसंबंधी विचार होता है उस में शिष्य तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप जानने की इच्छा करते हुए सत्य के विषय में आग्रह करे, दुराग्रह कभी न करे। प्रमाण से सिद्ध होनेवाले विषय मे दृढ आग्रह होना यह सदाग्रह (सत्य का आग्रह अथवा योग्य आग्रह) है। मन के भ्रम के कारण प्रमाणविरुद्ध विषय में दृढ आग्रह होना यह दुराग्रह कहलाता है। उचित साधनों से अपने पक्ष का समर्थन करना तथा उचित दूषणों से प्रतिपक्ष का निषेध करना यह (व्याख्यावाद मे) गुरु का कार्य होता है। उचित साधन तथा दूषण कैसे होते हैं यह पूछने पर कहते हैं- व्याप्ति से युक्त पक्ष के धर्म को उचित साधन (हेतु) कहते हैं (जिस का पहले विस्तार से वर्णन कर चुके हैं) तथा उचित साधन की कमी बतलाना यही उचित दूषण होता है। असिद्ध इत्यादि साधन (हेतु) के आभास हैं तथा छल आदि दूषण के आभास हैं (इन दोनो का पहले विस्तार से वर्णन हो चुका है)। अनुग्रह के योग्य शिष्य के साथ समझानेवाले गुरु अनुग्रह के लिए

अनुग्राह्यस्य शिष्यस्य बोधकैर्गुरुभिः सह ।
अनुग्रहाय कृतत्वाश स्तां जयपराजयौ ॥ २७ ॥

[८८. गोष्ठीवादः]

गोष्ठीवादे—असूयकत्वं शठताविचारो दुराग्रहः सूक्तिविमाननं च ।
पुंसाममी पञ्च भवन्ति दोषा तत्त्वार्थबोधप्रतिबन्धनाय ॥२८॥
सुजनैः किमजानद्भिः किं जानद्भिरसूयकैः ।
भाव्यं विशिष्टगोष्ठीषु जानद्भिरनसूयकैः ॥ २९ ॥
मूर्खैरपक्वबोधैस्तु सहालापश्चतुःफलः ।
वाचां व्ययो मनस्तापः ताडनं दुःप्रवादनम् ॥ ३० ॥
तस्मात् समं जनैर्भाव्यं शास्त्रयाथात्म्यवेदिभिः ।
प्रामाणिकैः प्रवादेषु कृताभ्यासैः कृपालुभिः ॥ ३१ ॥
गोष्ठ्यां सत्साधनैरेव स्वपक्षस्य समर्थनम् ।
सद्दूषणैर्विपक्षस्य तिरस्कारस्तयोर्मतः ॥ ३२ ॥

यह व्याख्यावाद करते हैं इसलिए इस में विजय अथवा पराजय का प्रश्न ही नही होता ।

गोष्ठीवाद

गोष्ठीवाद में पुरुषों के लिए तत्त्व का अर्थ समझने में बाधा डालनेवाले पांच दोष इस प्रकार होते है—मत्सर, दुष्टता, अविचार, दुराग्रह तथा अच्छे वचनों की अवहेलना । न जाननेवाले सज्जनो से अथवा जाननेवाले मत्सरी लोगों से क्या लाभ ? विशिष्ट गोष्ठी में भाग लेनेवाले लोग जाननेवाले किन्तु मत्सर न करनेवाले होने चाहिएं । अधूरी समझवाले मूर्खोंसे बातचीत के चार फल प्राप्त होते हैं—शब्द खर्च होना, मन को कष्ट होना, मारपीट होना अथवा निंदा होना । अत: गोष्ठी के सदस्य शास्त्रों का वास्तविक रूप जाननेवाले, समानशील, प्रामाणिक, दयालु तथा वादविवाद का अनुभव रखनेवाले होने चाहिएं । गोष्ठी में उचित साधनों से ही अपने पक्ष का समर्थन करना चाहिए तथा उचित दूषणों से ही प्रतिपक्ष का निषेध करना चाहिए । गोष्ठीवाद और व्याख्यावाद में तत्त्व का ज्ञान दृढ होना यही उद्देश होता है अतः अवमन्योप

गोष्ठीव्याख्यानयोरप्—

व्याख्यावादे च गोष्ठ्यां च तत्त्वज्ञानदृढार्थयोः।
अपप्रयोगदुःशब्दपौनरुक्त्यं न दूषणम्॥ ३३॥
विशिष्टैः क्रियमाणायां कथायां विदुषां सदौ।
तत्त्वबुद्धिदृढार्थत्वात् न स्तां जयपराजयौ॥ ३४॥

[८९. विवादवादः]

विवादवादे-ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं श्रुतम्।
तयोरेव विवादः स्यात् न तु पुष्टविपुष्टयोः॥ ३५॥
नैवारोहेत् तुलां जातु गरिष्ठो लघुना सह।
लघुरुन्नतिमायाति गरिष्ठोऽधो व्रजेद् यतः॥ ३६॥ इत्येके।
असमेनापि दृप्तेन सतां वादो यशस्करः।
गुणाः किं न सुवर्णस्य व्यज्यन्ते निकषोपले॥ ३७॥
परप्रधर्षप्रहितेन चेतसा व्यपेक्षया दर्पभरेण वा नृपाः।
वादं रणं वासुरवृत्तयो जनाः कर्तु यतन्ते न तु धर्मवृत्तयः॥३८॥

(अनुमान का गलत प्रयोग), गलत शब्दों का प्रयोग अथवा पुनरुक्ति ये दूषण नही होते। गोष्ठी-चर्चा विशिष्ट विद्वानो में तत्त्वज्ञान को दृढ करने के लिए की जाती है अतः इस में जय अथवा पराजय का प्रश्न ही नही होता है।

विवादवाद

विवादवाद में जिनका धन समान हो तथा जिनका अध्ययन समान हो उन्हीं में विवाद होता है, सबल तथा दुर्बल में विवाद नही हो सकता। गरिष्ट (भारी अथवा श्रेष्ठ) व्यक्ति को लघु (हलके अथवा नीच) व्यक्ति से तुलना नही करनी चाहिए क्यों कि ऐसी तुलना में हलका व्यक्ति ऊपर जाता है तथा भारी व्यक्ति नीचे जाता है ऐसा कुछ लोग कहते हैं (जिस तरह तराजू में एक ओर हलकी और दूसरी ओर भारी चीज हो तो हलकी चीज का पलडा ऊपर जाता है और भारी चीज का पलडा नीचे जाता है उसी तरह श्रेष्ठ और नीच व्यक्ति में विवाद हो तो श्रेष्ठ व्यक्ति की अधोगति और नीच व्यक्ति की उन्नति होती है)। जो समान नही है किन्तु अभिमान कर रहा है उस के साथ सत्पुरुष वाद करें तो वह कीर्ति बढानेवाला होता है;

यशोवधाय वृत्तेन तत्त्वविप्लवकारिणा ।
सतोऽपि ब्रुवता वादी वादं कुर्यात् त्रिभिः सह ॥ ३९ ॥
न रात्रौ नापि चैकान्ते नैवासाक्षिकमाचरेत् ।
विवादं मूर्खसभ्यानां परितो मूर्खभूपतेः ॥ ४० ॥

दुराग्रहो मूर्खता ।

प्रतिज्ञा तु न कर्तव्या वादे युद्धे च धीमता ।
फलमेव सतामाह सत्यासत्यव्यवस्थितिम ॥ ४१ ॥
द्रुतं विलम्बितं क्लिष्टम् अव्यक्तमनुनासिकम् ।
अप्रसिद्धपदं वादे न ब्रूयात् शास्त्रवित् सदा ॥ ४२ ॥
मूम एव विवादः स्याद् यदि युक्तः सदुक्तिभिः ।
अथ यष्टिजपेटाभिः तत्र वाचंयमा वयम् ॥ ४३ ॥

सोने के गुण क्या कसौटी के पत्थर पर प्रकट नही होते ? (यद्यपि सोना और पत्थर परस्पर समान नही हैं तथापि उन के संघर्ष से सोने के गुण स्पष्ट होते हैं उसी प्रकार विद्वान व्यक्ति अभिमानी अल्पज्ञ के साथ वाद करे तो उस की विद्वत्ता की कीर्ति बढती है) । केवल दूसरों से संघर्ष करने के आग्रह से अथवा गर्व से जो विद्वान या राजा विवाद या युद्ध करते हैं वे असुरों (राक्षसों) जैसी वृत्ति के हैं, धर्म के अनुकूल वृत्ति के नही । (प्रतिपक्षी की) कीर्ति नष्ट करने का जिस ने निश्चय किया है तथा जो तत्त्वोंका विप्लव करता है (तात्त्विक चर्चा में गडबडी फैलाना ही जिस का उद्देश है, कोई तत्त्व सिद्ध करना जिसे इष्ट नही) उस से भी वादी तीन सहयोगियों के साथ वाद करे । रात्रि में, एकान्त में, तथा बिना किसी साक्षी के विवाद न करे (क्यों कि ऐसे वाद में विजय का लाभ नही मिलता); जहां सभासद मूर्ख हों अथवा राजा मूर्ख हो वहां वाद न करे, यहां मूर्खता का तात्पर्य दुराग्रह से है (यदि सभासद या राजा दुराग्रही हों तो वे पक्षपात करेंगे अतः ऐसी सभा में वाद न करे) । वाद में तथा युद्ध में बुद्धिमान व्यक्ति प्रतिज्ञा न करे (शर्त न लगाये) सत्पुरुषों के लिए (वाद या युद्ध का) फल ही सत्य और असत्य का निर्णय बतलाता है । शास्त्र को जाननेवाला वादी वाद में बहुत जलदी, बहुत धीरे, बहुत कठिन, अस्पष्ट, नाक में अथवा अप्रसिद्ध शब्द न बोले । यदि उचित वाक्यों से युक्त वाद हो तो हम बोलेंगे ही, किन्तु लाठी या थप्पडों से वाद होना हो तो वहां हम चुप ही रहते हैं (ऐसी योग्य वादी की वृत्ति होनी चाहिए) ।

[९०. चत्वारि वादाङ्गानि।]

मात्सर्येण विवादः स्यात् चतुरङ्गश्चतुर्विधः।
प्रतिज्ञातार्थसिद्ध्यन्तत्वात् लोकविवादवत् ॥ ४४ ॥
अङ्गानि चत्वारि भवन्ति वादे सैन्ये यथा भूमिपतीश्वराणाम्।
सभापतिः सभ्यजनः प्रवादी वादी च सर्वे स्वगुणैरुपेताः॥ ४५ ॥

[९१. सभापतिः]

तत्र सभापतेः लक्षणम्।

समञ्जसः कृपालुश्च सर्वसिद्धान्ततत्त्ववित्।
अबाधितार्थसंग्राही बाधितार्थविहायकः ॥ ४६ ॥
आज्ञावान् धार्मिको दाता विद्वद्गोष्ठीप्रियः सुधीः।
नियन्तान्यायवृत्तीनां राजा स स्यात् सभापतिः ॥ ४७ ॥
आदिशन् वादयेद् वादे वादिनं प्रतिवादिना।
न स्वयं विवदेत् ताभ्यां धर्मतत्त्वविचारकः ॥ ४८ ॥

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

वाद के चार अंग

(वादी और प्रतिवादी के) मत्सर से जो विवाद होता है वह चार प्रकार का तथा चार अंगों से संपन्न होता है। लोगों के विवाद के समान यह विवाद भी प्रतिज्ञा किये हुए अर्थ की सिद्धि होने तक चलता है। राजाओं के सैन्य में जिस तरह चार अंग (हाथी, घोडे, रथ और पदाति) होते हैं उसी तरह वाद में चार अंग होते हैं। अपने गुणों से युक्त वे सब अंग इस प्रकार हैं – सभापति, सभ्यजन, प्रतिवादी तथा वादी।

सभापति

उन (चार अंगों) में सभापति का लक्षण इस प्रकार है। वह राजा सभापति होना चाहिए जो समझदार, दयालु, सब सिद्धान्तों के तत्त्वों को जाननेवाला, अबाधित अर्थ का संग्रह कर के बाधित अर्थ को छोडनेवाला, आज्ञा देने में समर्थ, धार्मिक, दानशील, विद्वानों की चर्चा जिसे प्रिय है ऐसा, बुद्धिमान्, व अन्याय के बरताव को नियंत्रित करनेवाला हो। सभापति वादी को आदेश देते हुए प्रतिवादी से वाद करवाये। धर्म के तत्त्वों का विचार
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

सभापतिर्वदेद् वादे साधनं दूषणं यदि।
को विवादात् घटेत् तेन कुतस्त्यस्तत्त्वनिश्चयः ॥ ४९ ॥
जानन्नुभयसिद्धान्तौ गुणदोषौ तयोर्मती।
राजा सभ्यैर्विचार्यैव देयाज्जयपराजयौ ॥ ५० ॥

[१२. सभ्याः]

सभ्यानां लक्षणमुच्यते।

अपक्षपातिनः प्राज्ञाः स्वयमुद्ग्रहणे क्षमाः।
सर्वसिद्धान्तसारज्ञाः सभ्या दुर्वाक्यवारकाः ॥ ५१ ॥

उक्तं च।

अपक्षपातिनः प्राज्ञाः सिद्धान्तद्वयवेदिनः।
असद्वादनिषेद्धारः प्राश्निकाः प्रग्रहा इव ॥५२ ॥

(प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ. १९५)

करते हुए वह स्वयं उन से विवाद न करे। यदि सभापति ही वाद में साधन या दूषण बताये तो उस से विवाद कैसे होगा तथा तत्त्व का निश्चय कहां से होगा (तात्पर्य – सभापति का कार्य निर्णय देना है, स्वयं वाद करना नही)। दोनों पक्षों के सिद्धान्तों को, उन के गुणदोषों को तथा विचारों को जानते हुए राजा सभासदों से विचार करके ही जय अथवा पराजय का निर्णय दे।

सभासद

अब सभासदों का लक्षण बतलाते हैं। जो पक्षपाती नही हैं, बुद्धिमान हैं, स्वयं तत्त्व को समझ सकते हैं, सभी सिद्धान्तों के तात्पर्य को जानते हैं तथा गलत वचनों को रोक सकते हैं वे सभासद होते हैं। कहा भी है – पक्षपात न करनेवाले, बुद्धिमान, दोनों सिद्धान्तों को जाननेवाले, तथा गलत वचनों को रोकनेवाले प्राश्निक (सभासद) प्रग्रह के (लगाम के) समान होते हैं (दोनों पक्षों को नियन्त्रित कर उचित मार्ग पर बनाये रखते हैं)। सभासद सात, पांच या तीन होने चाहिएं, वे दोनों मतों के विशेषों को जाननेवाले हों, समझदार हों तथा जो चीजें छोडने योग्य हैं उन से (अपशब्द आदि से) दूर रहनेवाले हों। कहा भी है – जिन्हों ने कई वाद देखे

प्राश्निकैः सप्तभिर्भाव्यमथवा पञ्चभिस्त्रिभिः ।
सत्त्वहृदयविशेषज्ञैः वर्ज्यभीकसमञ्जसैः ॥ ५३ ॥

तथा चोक्तम् ।

दृष्टवादैः श्रुतज्येष्ठैः त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ।
माध्यस्थ्यादिगुणोपेतैः भवितव्यं परीक्षकैः ॥ ५४ ॥

अलाभे एकेनापि पर्याप्तम् ।

नार्थसंबन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः ।
न दृष्टदोषा मध्यस्था न व्याध्यार्ता न दूषिताः ॥ ५५ ॥
वादिनौ स्पर्धयेद् वृत्तो सभ्यैः सारेतरेक्षिभिः ।
राज्ञा च विनियन्तव्यौ तत्सांनिध्यं वृथान्यथा ॥ ५६ ॥
आज्ञागाम्भीर्यदातृत्वविवेकनिधिभर्तृकाम् ।
सभामानिविशेन्नेयादनिशं बहुनायिकाम् ॥ ५७ ॥
अज्ञाततत्त्वचेतोभिः दुराग्रहमलीमसैः ।
युद्धमेव भवेत् गोष्ठ्यां दण्डादण्डि कचाकचि ॥ ५८ ॥

हैं, जिन का अध्ययन बढा चढा है, तथा जो तटस्थता आदि गुणों से युक्त हैं ऐसे तीन या पांच परीक्षक (सभासद) होने चाहिएं। यदि (ऐसे अधिक परीक्षक) न मिलें तो एक भी काफी होता है। सभासद (वादी अथवा प्रतिवादी से) धन के मामलों में संबंधित (कर्जदार या साहूकार) न हों, वे उन के रिश्तेदार न हों, मित्र न हों तथा शत्रु भी न हों, वे दोष देखनेवाले, रोग से दुखी या अन्य दोष से दूषित न हों, तटस्थ हों। (अनुमान का) सार तथा निस्सार होना जाननेवाले सभासदों से घिरा हुआ राजा वादी तथा प्रतिवादी में वाद कराये, राजा उन्हें नियन्त्रित भी करे (स्वैर बर्ताव न करने दे) अन्यथा उस का समीप होना व्यर्थ होगा। ऐसी सभा में जाना चाहिए जिस का स्वामी (राजा) आज्ञा देनेवाला, गम्भीर, उदार, व विवेकशील हो। ऐसी सभा में कभी न जाये जिस में बहुतसे नेता हों (यदि बहुतसे नेता होते हैं तो उन में आपस में न पटने पर वाद में विघ्न आते हैं)। जिन के मन में तत्त्वों का ज्ञान नही है, जो दुराग्रह से मलिन हैं ऐसे लोगों के साथ चर्चा करने में डण्डे मार कर तथा केश घसीट कर लडाई ही होती

उक्तं च ।

राजा विप्लावको यत्र सभ्याश्चासमवृत्तयः ।
तत्र वादं न कुर्वीत सर्वज्ञोऽपि यदि स्वयम् ॥ ५९ ॥

[९३. पक्षपातनिन्दा]

अयथार्थं ब्रुवतां सभ्यसभापतीनां निन्दा निगद्यते ।

युक्तायुक्तमतिक्रम्य पक्षपाताद्वदेद् यदि ।
ब्रह्मघ्नादधिकं दुःखं नरकेषु समश्नुते ॥ ६० ॥
ब्रह्मघ्नानां च ये लोका ये च स्त्रीबालघातिनाम् ।
मित्रद्रुहां कृतघ्नानां ते ते स्युर्ब्रुवतोऽन्यथा ॥ ६१ ॥
पक्षपाताद् वदेद् योऽपि गुणदोषातिलङ्घनात् ।
सोऽपि ब्रह्मविघातेन यद्दुःखं तद्भजत्यसौ ॥ ६२ ॥

अपि च । अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानामवमानना ।
तत्र दैवकृतो दण्डः सद्यः पतति दारुणः ॥ ६३ ॥

है (वास्तविक विचारविमर्श नहीं हो सकता)। कहा भी है – जहां राजा गडबडी पैदा करता हो तथा सभासद समान भाव न रखते हों (पक्षपाती हों) वहां वादी स्वयं सर्वज्ञ भी हो तो वाद न करे (क्यों कि ऐसे वाद में पक्षपात से निर्णय होता है, वादी के ज्ञान का कोई उपयोग नहीं होता)।

पक्षपात की निन्दा

असत्य बोलनेवाले सभासद तथा सभापति की निन्दा इस प्रकार की जाती है। यदि (सभापति या सभासद) योग्य और अयोग्य को छोड कर पक्षपात से बोलता है तो वह ब्राह्मण की हत्या करनेवाले से भी अधिक दुःख नरक में प्राप्त करता है। असत्य बोलनेवाले को वही गति प्राप्त होती है जो ब्राह्मण की हत्या करनेवालो को, स्त्री तथा बच्चों की हत्या करनेवालों को तथा मित्रों की हत्या करनेवाले कृतघ्न लोगों को प्राप्त होती है। गुण और दोष को छोड कर जो भी पक्षपात से बोलता है वह कोई भी हो, उसे वही दुःख प्राप्त होता है जो ब्राह्मण की हत्या करनेवाले को मिलता है। और भी कहा है–जहां पूज्य लोगों का अपमान होता है और अपूज्य लोगों का आदर होता है वहां तत्काल दैवकृत दण्ड का आघात होता है। जहां जहां विद्वानों

विद्वद्योगैरविद्वांसो यत्र यत्र प्रपूजिताः ।
तत्र संघः सतां मृत्युः अर्थहानिः प्रजायते ॥ ६४ ॥
व्याधिः पीडा मनोग्लानिरनावृष्टिर्भयं ततः ।
पक्षपातं विना तत्त्वज्ञानिनं मानयेद् भृशम् ॥ ६५ ॥
राज्ये सप्ताङ्गसंपत्तिरायुःसौख्याभिवर्धनम् ।
सुवृष्टिः सुफलं क्षेममारोग्यं तत्प्रपूजनात् ॥ ६६ ॥
यो दद्यादाश्रयाद्यादिं तत्त्वयाथात्म्यवेदिने ।
स भुक्त्वा याति निर्वाणमन्येभ्यो भवसंततिः ॥ ६७ ॥
कुत एतत् । अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः ।
ददाति यद्दुहि यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥ ६८ ॥
इत्युक्तत्वात् ॥ (इष्टोपदेश श्लो. २३)

[९४. वादिप्रतिवादिनौ]

वादिलक्षणमुच्यते ।
विदितस्वपरैतिह्यः कविताप्रतिपत्तिमान् क्षमी वाग्मी ।
अनुयुक्ते प्रतिवक्ता कृतपक्षपरिग्रहो वादी ॥ ६९ ॥

के साथ अविद्वानों का भी आदर हो वहां तत्काल सज्जनो की मृत्यु तथा धन की हानि होती है, तथा रोग, दुःख, मन की उदासी, अनावृष्टि और भय होता है । इस लिए पक्षपात न करते हुए तत्त्वज्ञानी का बहुत सम्मान करना चाहिए । तत्त्वज्ञानी के आदर से राज्य में सातों अंगों की प्राप्ति होती है, आयु और सुख बढता है, अच्छी वर्षा होती है तथा फल अच्छा मिलता है, सर्वत्र कुशल तथा आरोग्य रहता है । तत्त्वों के वास्तविक ज्ञाता को जो आश्रय, अन्न आदि देता है वह उपभोग प्राप्त कर अन्त में निर्वाण प्राप्त करता है, दूसरे लोग संसार की परंपरा में ही भ्रमण करते रहते हैं । ऐसा क्यों कहते हैं ? कहा भी है– अज्ञान की उपासना से अज्ञान प्राप्त होता है तथा ज्ञानी के आश्रय से ज्ञान मिलता है, यह वचन सुप्रसिद्ध है कि जिस के पास जो हो वही वह दे सकता है ।

वादी और प्रतिवादी

अब वादी का लक्षण कहते हैं – अपने तथा दूसरे (प्रतिपक्षी) के

प्रतिवादिलक्षणमुच्यते ।

क्षमी स्वपरपक्षज्ञः कविताप्रतिपत्तिमान् ।
अनूद्य दूषको वादे प्रतिवादी प्रशस्तवाक् ॥ ७० ॥

इति चतुरङ्गानि ॥

[९५. चतुर्विधे वादे तात्त्विकवादः]

इदानीं चातुर्विध्यमुच्यते ।

तात्त्विकः प्रातिभश्चैव नियतार्थः परार्थनः ।
यथाशास्त्रं प्रवृत्तोऽयं विवादः स्याच्चतुर्विधः ॥ ७१ ॥

तत्र तात्त्विक उच्यते ।

यत्रैता न प्रयुज्यन्ते निष्फलाश्छलजातयः ।
उक्ता अपि न दोषाय स वादस्तात्त्विको भवेत् ॥ ७२ ॥
यावन्तो दूषणाभासास्ते शास्त्रे छलजातयः ।
ते चात्मपरतत्त्वस्य सिद्ध्यसिद्ध्योरहेतवः ॥ ७३ ॥

वृत्तान्त को जाननेवाला, कविता को समझनेवाला, सहनशील, बोलने में निपुण, प्रश्न किये जाने पर उत्तर देनेवाला तथा किसी पक्ष का जिसने स्वीकार किया है वह वादी होता है। अब प्रतिवादी का लक्षण कहते हैं – सहनशील, अपने तथा दूसरे (प्रतिपक्षी) के पक्ष को जाननेवाला, कविता को समझनेवाला, प्रशंसनीय वचनों का प्रयोग करनेवाला तथा वाद में (वादी के कथन को) दुहरा कर उस में दोष बतलानेवाला प्रतिवादी होता है। इस प्रकार (वाद के) चार अंगों का वर्णन पूरा हुआ।

तात्त्विक वाद

अब (वाद के) चार प्रकारों का वर्णन करते हैं। शास्त्र के अनुसार होनेवाला यह विवाद चार प्रकार का होता है – तात्त्विक, प्रातिभ, नियतार्थ तथा परार्थन। उन में तात्त्विक वाद का वर्णन इस प्रकार है। जिस में छल, जाति इत्यादि निष्फल बातों का प्रयोग नहीं किया जाता तथा करने पर भी जहां वे (प्रतिपक्षी के लिए) दोष के कारण नहीं होते उस वाद को तात्त्विक वाद कहते हैं। शास्त्र में जितने झूठे दूषण हैं वे छल, जाति आदि अपने तत्त्व को सिद्ध करने को लिए या प्रतिपक्षी के तत्त्व को असिद्ध बतलाने के

तात्त्विकवादे जयपराजयव्यवस्था कथ्यते ।

वादिना साधने प्रोक्ते दोषमुद्भाव्य साधनम् ।
स्वपक्षे प्रतिवादी चेत् ब्रूते वादी निगृह्यते ॥ ७४ ॥
तद्धेतौ दोषमुद्भाव्य स्वपक्षे साधनं पुनः ।
वक्तुं नेशः प्रवादी स्यात् यदा साम्यं तयोर्भवेत् ॥ ७५ ॥
साधूक्ते साधने दोषो नेक्ष्यतेऽसन् प्रयुज्यते ।
परेण वादिनोद्धारे प्रतिवादी निगृह्यते ॥ ७६ ॥
तदुद्धरणसामर्थ्याभावे साम्यं तयोर्भवेत् ॥

[१६. प्रातिभवादः]

प्रातिभ उच्यते ।

स्यात् पद्यगद्यभाषाणां मिश्रामिश्रादिभेदतः ।
नियतैश्चाक्षरादीनां प्रातिभोऽनेकवर्त्मनः ॥ ७७ ॥

लिए कारण नही हो सकते । अब तात्त्विक वाद में जय और पराजय की व्यवस्था बतलाते हैं । वादी द्वारा (अपने पक्ष की सिद्धि के लिए) हेतु बताये जाने पर प्रतिवादी उस में दोष बता कर अपने पक्ष में हेतु बतलाये तो वादी पराजित होता है । यदि वादी द्वारा बताये गये हेतु में दोष बताने के बाद प्रतिवादी अपने पक्ष में हेतु न बता सके तो दोनों में समानता होती है । वादी द्वारा बताये गये हेतु में दोष न दिखाई दे और प्रतिवादी झूठा दूषण बताये तथा वादी उस झूठे दूषण का उत्तर दे दे तो प्रतिवादी पराजित होता है । यदि वादी उस झूठे दूषण का उत्तर न दे सके तो उन दोनों में समानता होती है ।

प्रातिभ वाद

अब प्रातिभ वाद का वर्णन करते हैं । पद्य, गद्य, भाषा, मिश्र, अमिश्र, अक्षर आदि के नियमों से अनेक प्रकार का प्रातिभ वाद होता है । वचनों की विशिष्ट रचना यह इस का स्वरूप है और यह वक्ता के अभ्यास से संभव होता है । अतः तत्त्व का निर्णय करनेवालों के लिए उस की कुछभी उपयोगिता नही है । (वस्तुतः इसे वाद न कह कर काव्यप्रतिभा की स्पर्धा कहना चाहिए; एक या दो ही अक्षरों का प्रयोग कर श्लोक लिखना, कुछ

वचोगुम्फविशेषोऽयं वक्तुरभ्याससंभवी ।
तत्त्वनिर्णयकर्तृणां न तस्यैवोपयोगिता ॥ ७८ ॥

[९७. नियतार्थवादः]

नियतार्थ उच्यते ।

हेतुदृष्टान्तदोषेषु प्रतिज्ञातैकदोषतः ।
नियतार्थः प्रतिज्ञातकक्षायां भङ्गवादनम् ॥ ७९ ॥
प्रातिभे नियतार्थे वा जयः स्यान्नियमोक्तितः ।
नियमस्य विघातेन भङ्गो वादिप्रवादिनोः ॥ ८० ॥

[९८. परार्थनवादः]

परार्थन उच्यते ।

प्रतिवाद्यानुलोम्येन भूपसभ्यार्थनेन वा ।
परार्थनो भवेद् वादः परस्येच्छानुवर्तनात् ॥ ८१ ॥

विषय का पद्य में वर्णन करना, ललित विषय का गद्य में वर्णन करना, दो भाषाओं के मिश्रण से रचना करना आदि प्रकारों की स्पर्धाएं राजसभाओं में प्रायः होती थी) ।

नियतार्थ वाद

अब नियतार्थ वाद का वर्णन करते हैं । हेतु अथवा दृष्टान्त के दोषों में किसी एक दोष (को बतलाने) की प्रतिज्ञा करने पर उस प्रतिज्ञा की परिधि में (प्रतिपक्षी की बात को) निरस्त करना यह नियतार्थ वाद है (प्रतिपक्षी का हेतु असिद्ध बतला कर मैं उसे पराजित करूंगा अथवा विरुद्ध बतला कर पराजित करूंगा इस प्रकार नियम कर के उसी के अनुसार प्रतिपक्षी को उत्तर देना यह नियतार्थ वाद का स्वरूप है) । प्रातिभ वाद में तथा नियतार्थ वाद में नियम के अनुसार बोलने पर वादी-प्रतिवादी का विजय होता है तथा नियम तोड़ने पर पराजय होता है ।

परार्थन वाद

अब परार्थन वाद का वर्णन करते हैं । प्रतिवादी के अनुरोध को स्वीकार करने से अथवा राजा या किसी सभासद के निवेदन पर जो वाद

पराथें तात्त्विकस्येव स्यातां जयपराजयौ।
कथाया अवसानोऽपि जयाजयसमाप्तितः ॥ ८२ ॥

[९९. पत्रलक्षणम्]

इदानीं पत्रावलम्बनविषयः। पत्रलक्षणमुच्यते।

मात्सर्येण विवादस्य वृत्तौ वादिप्रवादिनोः।
पत्रावलम्बनं तत्र भवेन्नान्यत्र कुत्रचित् ॥ ८३ ॥
तत्तन्मतप्रसिद्धाङ्गं गूढार्थं गूढसत्त्वकम्।
स्वेष्टप्रसाधकं वाक्यं निर्दोषं पत्रमुत्तमम् ॥ ८४ ॥
प्रसिद्धावयवं गूढपदप्रायं सुशब्दकम्।
स्वेष्टप्रसाधकं वाक्यं निर्दोषं पत्रमुच्यते ॥ ८५ ॥

उक्तं च। प्रसिद्धावयवं वाक्यं स्वेष्टस्यार्थस्य साधकम्।
साधुगूढपदप्रायं पत्रमाहुरनाकुलम् ॥ ८६ ॥ (पत्रपरीक्षा पृ. १)

होता है उसे परार्थन कहते हैं क्यों कि वह दूसरे की इच्छा के मानने से होता है। परार्थन वाद में जय-पराजय के नियम तात्त्विक वाद के समान होते हैं तथा जय अथवा पराजय में समाप्त होने पर कथा (उस चर्चा) का अन्त होता है।

पत्र का लक्षण

अब पत्र के सम्बन्ध में विचार करेंगे। पत्र का लक्षण इस प्रकार है—वादी तथा प्रतिवादी में मत्सर से युक्त (प्रतिपक्षी पर विजय प्राप्त करने की ईर्ष्या से सहित) विवाद हो वहां पत्र का आश्रय लिया जाता है, अन्यत्र कहीं भी नहीं। वह वाक्य निर्दोष तथा उत्तम पत्र होता है जो उस उस मत में (पत्र का प्रयोग करनेवाले वादी के मत में) प्रसिद्ध अंगों से युक्त हो, जिस का अर्थ तथा तात्पर्य गूढ हो तथा जो अपने इष्ट तत्त्व को सिद्ध करता हो। जिस में प्रसिद्ध (अपने मत की रीति के अनुसार) अवयव हों, जिस के शब्द अच्छे किन्तु प्रायः गूढ हों तथा जो अपने इष्ट तत्त्व को सिद्ध करता हो उस वाक्य को निर्दोष पत्र कहते हैं। कहा भी है—प्रसिद्ध अवयवों से युक्त, अपने इष्ट अर्थ को सिद्ध करनेवाला तथा अच्छे किन्तु प्रायः गूढ शब्दों से बना हुआ वाक्य निर्दोष पत्र होता है।

[१००. पत्रस्य अङ्गानि]

> पञ्चावयवान् यौगश्चतुरो मीमांसकश्च सांख्यस्त्रीन् ।
> जैनो द्वौ स च बौद्धस्त्वेकं हेतुं निरूपयति ॥ ८७ ॥

अपि च जैनमते

> चित्राद्यदन्तराणीयमारेकान्तात्मकत्वतः ।
> यदित्थं न तदित्थं न यथा किंचिदिति त्रयः ॥ ८८ ॥

(पत्रपरीक्षा पृ. १०)

पत्र के अंग

पत्र (में वर्णित अनुमान वाक्य के पांच अवयव होने चाहिए ऐसा नैयायिक कहते हैं, मीमांसक चार, सांख्य तीन, जैन दो तथा बौद्ध केवल-हेतु इस एक ही अवयव को आवश्यक समझते हैं । कहीं कहीं जैन मत में भी (यहाँ की एक पंक्ति का अर्थ नीचे देखिए) जो ऐसा नहीं है वह ऐसा नहीं होता जैसे अमुक ये तीन अवयव होते है (उदाहरणार्थ-जो धूमयुक्त नहीं है वह अग्नियुक्त नहीं होता जैसे सरोवर । और यह वैसा है ऐसा कहने पर चार अवयव होते हैं (उदा०-और यह पर्वत धूमयुक्त है) । इसलिए वह ऐसा है ऐसा कहने पर पांच अवयव होते हैं (उदा० -इसलिए यह पर्वत अग्नियुक्त है) ऐसा वर्णन भी पाया जाता है ।

(चित्रात् आदि पंक्ति का स्पष्टीकरण-यहां के तीन शब्दों का स्पष्टीकरण विद्यानन्दि स्वामी के कथनानुसार इस प्रकार है-चित्र अर्थात् एक, अनेक, भेद, अभेद, नित्य, अनित्य आदि विचित्रताओं को अतति अर्थात् व्याप्त करता है वह चित्रात् अर्थात् अनेकान्तात्मक है; यदन्त का अर्थ विश्व है क्यों कि सर्वनामों की गणना में विश्व शब्द के बाद यद् शब्द आता है, यद् जिसके बाद में आता है वह यदन्त अर्थात् विश्व शब्द है; राणीय अर्थात् कहने योग्य क्यों कि रा धातु का अर्थ शब्द करना यह होता है; यदन्तराणीय अर्थात् यदन्त इस शब्द द्वारा कहने योग्य अर्थात् विश्व; यदन्तराणीयम् चित्रात् अर्थात् विश्व अनेकान्तात्मक है; आरेका अर्थात् संशय, आरेकान्त अर्थात् प्रमेय क्यों कि न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र में वर्णित सोलह पदार्थों में प्रमेय के बाद संशय शब्द

तथा चेदमिति लोके पत्नालोऽवयवा मताः ।
तस्मात् तथेति निर्देशो पञ्च पत्रस्य कस्यचित् ॥ ८९ ॥ (उपर्युक्त)
इति निर्देशोऽप्यस्ति ॥

[१०१. पत्रस्वरूपम्]

त्रायन्ते वा पदान्यस्मिन् परेभ्यो विजिगीषुणा ।
कुतश्चिदिति पत्रं स्याल्लोके शास्त्रे च रूढितः॥९०॥ (पत्रपरीक्षा पृ. १)
मुख्यं पदात्मकं वाक्यं लिप्यामारोप्यते लिपेः ।
पत्रस्थत्वाच्च तत् पत्रम् उपचारोपचारतः ॥ ९१ ॥
तत्पत्रेण कीदृशेण भवितव्यमित्युक्ते वक्ति ।
सौवर्णं राजतं ताम्रं भूर्जपत्रमथापरम् ।
स्वेष्टप्रसाधकं पत्रं राजद्वारे शुभावहम् ॥ ९२ ॥

का उल्लेख है; आरेकान्तात्मकत्व अर्थात् प्रमेयात्मकत्व अर्थात् प्रमेयत्व; आरेकान्तात्मकत्वतः अर्थात् प्रमेयत्व के कारण; इस प्रकार पूरे वाक्य का तात्पर्य हुआ—यदन्तराणीयम् (विश्व) चित्रात् (अनेकान्तात्मक है) आरेकान्तात्मकत्वतः (क्यों कि वह विश्व प्रमेय है, सब प्रमेय अनेकान्तात्मक होते हैं अतः विश्व अनेकान्तात्मक है) ।

पत्र का स्वरूप

विजय की इच्छा रखनेवाला (वादी) प्रतिवादी से अपने पदों (शब्दों) की इस में किसी तरह रक्षा करता है (गूढ शब्दों का प्रयोग कर के प्रतिवादी से अपने वाक्य की रक्षा करता है) इस लिए इसे (इस गूढ वाक्य को) लोगों के व्यवहार में तथा शास्त्र चर्चा में रूढि के कारण पत्र कहते हैं (प = पद तथा त्र = रक्षक अतः पत्र = पदों का रक्षक ऐसा यहां शब्दच्छेद किया है) । मुख्यतः वाक्य शब्दों से बनता है, लिपि में वाक्य होने का आरोप किया जाता है (वाक्य के शब्द लिपि में अंकित किये जाने पर व्यवहार से उन लिपि चिन्हों को भी वाक्य कहा जाता है) तथा ये लिपि-चिन्ह पत्र पर अंकित होते हैं अतः उपचार के भी उपचार से उस पत्र को भी वाक्य कहते हैं (और इस तरह वादी द्वारा प्रयुक्त गूढ वाक्य को पत्र यह संज्ञा मिलती है) । वह पत्र कैसा होना चाहिये यह पूछने पर उत्तर

श्रीतालं खरतालं वा पत्रं स्वेष्टार्थसाधकम् ।
वितस्तिहस्तमात्रं वा राजद्वारे शुभावहम् ॥ ९३ ॥

[१०२. पत्रविचारे जयपराजयौ]

ज्ञातपत्रार्थको विद्वान् पत्रस्थमनुमानकम् ।
अनूद्य दूषणं ब्रूयान्नान्यदर्थान्तरोक्तितः ॥ ९४ ॥
अङ्गीकृतं वस्तु विहाय विद्वान् भीतेः प्रसंगान्तरमर्थमाह ।
तदास्य कृत्वा वचनोपरोधं स्वपक्षसिद्धावितरो यतेत ॥ ९५ ॥
पत्रार्थं न विजानाति यदि संपृच्छतां परः ।
सोऽपि सम्यग् वदेत् स्वार्थं ततो दूषणभूषणे ॥ ९६ ॥
असंकेताप्रसिद्धादिपदैः पत्रार्थबोधनम् ।
प्रवादिनो न जायेत तावता न पराजयः ॥ ९७ ॥

देते हैं। अपने इष्ट तत्त्व को सिद्ध करनेवाला शुभसूचक पत्र सोने का, चांदी का, तांबे का अथवा भूर्जवृक्ष का हो सकता है, उसे राजसभा के द्वार पर (प्रस्तुत किया जाता है)। राजसभा के द्वार पर शुभसूचक पत्र अपने इष्ट अर्थ को सिद्ध करनेवाला होना चाहिये, वह श्रीताल अथवा खरताल वृक्ष का भी हो सकता है, वह एक बालिश्त या एक हाथ लम्बा होना चाहिये।

पत्र के विषय में जय और पराजय की व्यवस्था

पत्र के अर्थ को जान कर (प्रतिपक्षी) विद्वान पत्र में वर्णित अनुमान को दुहराए तथा उस में दोष बताये, अन्य चर्चा न करे क्यों कि वह (दूसरे विषय की चर्चा करना) विषयान्तर होगा। (पत्र में) ली हुई बात को छोड कर (प्रतिपक्षी) विद्वान (पराजय के) डर से विषयान्तर करके कोई वाक्य कहे तो उस के बोलने को रोक कर दूसरा (पत्र का प्रयोग करनेवाला वादी) अपने पक्ष को सिद्ध करने का प्रयत्न करे। पूछने पर भी यदि प्रतिपक्षी पत्र के अर्थ को न समझे तो वादी अपने अर्थ को योग्य रीति से बतलाये, उस के बाद दोष और गुणों की चर्चा की जाय। संकेतरहित (वे शब्द जिन का विशिष्ट अर्थ में प्रयोग रूढ नही है) अथवा अप्रसिद्ध (वे शब्द जिन का प्रयोग प्रायः नही होता) शब्दों के कारण प्रतिपक्षी पत्र के अर्थ को न समझ सके तो उतने से ही उस का पराजय नही होता।

[१०३. वादजल्पौ]

साधनं दूषणं चापि सम्यगेव प्रयुज्यते।
पक्षवैपक्षयोर्यस्मिन् स वादः परिकीर्तितः ॥ ९८ ॥

यस्मिन् विचारे पक्षविपक्षयोर्यथाक्रमम् सम्यक्साधनदूषणे एव प्रयुज्येते स विचारो वाद इति परिकीर्त्यते। उक्तो वादः। इदानीं जल्प उच्यते।

सम्यगेव तदज्ञाने तदाभासोऽपि युज्यते।
पक्षवैपक्षयोर्यत्र स जल्पः परिभाष्यते ॥ ९९ ॥

यत्र विचारे पक्षविपक्षयोर्यथाक्रमं सम्यगेव साधनदूषणे प्रयुज्येते, तयोरपरिज्ञाने साधनदूषणाभासावपि प्रयुज्येते स विचारो जल्प इति परिभाष्यते ॥

[१०४. कथाचतुष्कम्]

उक्तो जल्पः। इदानीं तयोः वितण्डे उच्येते।

विपक्षस्थापनाहीनौ वादजल्पौ प्रकीर्तितौ।
वितण्डे इति शास्त्रेषु न्यायमार्गेषु सद्बुधैः ॥ १०० ॥

वाद और जल्प

जिस में पक्ष में और विपक्ष में योग्य साधनों और योग्य दूषणों का ही प्रयोग किया जाता है उसे वाद कहते हैं। अर्थात जिस विचारविमर्श में अपने पक्ष में योग्य साधनों का ही प्रयोग किया जाता है तथा प्रतिपक्ष में योग्य दूषण ही दिये जाते हैं उसे वाद कहा जाता है। इस प्रकार वाद का वर्णन हुआ। जल्प का वर्णन करते हैं। जिस में पक्ष और विपक्ष में योग्य साधनों और योग्य दूषणों का ही प्रयोग किया जाता है किन्तु उन योग्य साधन-दूषणों का ज्ञान न होने पर साधनाभास तथा दूषणाभास का भी प्रयोग होता है उसे जल्प कहते हैं। अर्थात जिस विचारविमर्श में अपने पक्ष में योग्य साधनों का ही प्रयोग किया जाता है किन्तु योग्य साधन न सूझने पर साधनाभास का भी प्रयोग किया जाता है तथा प्रतिपक्ष में योग्य दूषण ही दिये जाते हैं किन्तु योग्य दूषण न सूझने पर दूषणाभास भी प्रयुक्त किये जाते हैं उसे जल्प कहा जाता है।

कथा के चार प्रकार

ऊपर जल्प का वर्णन किया। अब उन दोनों (वाद और जल्प) की

वादः प्रतिपक्षस्थापनाहीनो यदि तद् वादवितण्डा । जल्पोऽपि विपक्ष-स्थापनाहीनश्चेत् जल्पवितण्डा स्यादिति न्यायमार्गेषु सद्बुधैः उद्योत-करादिभिः चतस्रः कथाः परिकीर्तिताः । तत्र

वीतरागकथे वादवितण्डे निर्णयान्ततः ।
विजिगीषुकथे जल्पवितण्डे तदभावतः ॥ १०१ ॥

वादवादवितण्डे वीतरागकथे भवतः। गुरुशिष्यैः विशिष्टविद्वद्भिर्वा श्रेयोऽर्थिभिः तत्त्वबुभुत्सुभिः अमत्सरैरन्यतरपक्षनिर्णयपर्यन्तं क्रियमाण-त्वात् । जल्पजल्पवितण्डे विजिगीषुकथे स्याताम् । वादिप्रतिवादिसभा-पतिप्राश्निकाङ्गत्वात् । लाभपूजाख्यातिकामैः समत्सरैः तत्त्वज्ञानसंर-

---

वितण्डाओं का वर्णन करते हैं । जिस वाद और जल्प में प्रतिपक्ष की स्थापना नहीं की जाती उन्हे अच्छे विद्वान न्याय-मार्ग के शास्त्रों में वितण्डा कहते हैं । अर्थात्-वाद में यदि प्रतिपक्ष की स्थापना न हो तो वह वादवितण्डा होती है तथा जल्प मे प्रतिपक्ष की स्थापना न हो तो वह जल्पवितण्डा होती है ऐसा न्याय के मार्ग में अच्छे विद्वानो ने – उद्योतकर आदि ने कहा है, इस प्रकार कथा के चार प्रकार होते हैं (वाद, वादवितण्डा, जल्प तथा जल्पवितण्डा) । इन में वाद तथा वादवितण्डा (तत्त्व के) निर्णय होने तक की जाती हैं अतः ये वीतराग कथाएं हैं तथा जल्प और जल्पवितण्डामें उस का अभाव है (तत्त्व का निर्णय मुख्य न हो कर वादी का जय अथवा पराजय मुख्य है, वादी का जय होते ही वह समाप्त होती है) अतः ये कथाएं विजिगीषु कथाएं हैं । वाद तथा वादवितण्डा ये वीतराग कथाएं हैं क्यों कि ये गुरुशिष्यो में अथवा उन विशिष्ट विद्वानों में होती हैं जो कल्याण के इच्छुक, तत्त्व जानने के लिए उत्सुक तथा मत्सर से दूर होते हैं, ये कथाएं एक पक्ष के निर्णय होने तक की जाती हैं (इन में किसी की हार या जीत का प्रश्न नही होता, कौनसा तत्त्व सत्य है यह निर्णय होता है)। जल्प और जल्पवितण्डा ये विजिगीषु कथाएं हैं, इन में वादी, प्रतिवादी, सभा-पति तथा प्राश्निक (परीक्षक सभासद) ये चारों अंग होते हैं, लाभ, आदर तथा कीर्ति की इच्छा रखनेवाले मत्सरी वादी (अपने पक्ष के) तत्त्वज्ञान के रक्षण के लिए ये कथाएं करते हैं तथा प्रतिवादी के पराजय तक ही ये कथाएं

कृपाणार्थिभिः प्रतिवादिस्खलनमात्रपर्यन्तं क्रियमाणत्वाच्च । इति कश्चिद-
पश्चिमो विपश्चित् कथाचतुष्टयम् अचीकथत् ॥

[१०५. कथात्रितयम्]

तथा प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः (न्यायसूत्र १-२-१) छलजातिनिग्रहस्थान साधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो जल्पः । जल्प एव प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा । तत्त्वज्ञानार्थं वादः । तत्त्वज्ञानसंरक्षणार्थे जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् । तथा हि । जल्पवितण्डे विजिगीषुविषये तत्त्वज्ञानसंरक्षणार्थे-

---

की जाती हैं । इस प्रकार किसी श्रेष्ठ विद्वान ने कथा के चार प्रकारों का वर्णन किया है ।

कथा के तीन प्रकार

जिस में प्रमाण और तर्क के द्वारा साधन और दूषण उपस्थित किये जाते हैं, जो सिद्धान्त के विरुद्ध नही होता, पांच अवयवों से संपन्न होता है तथा पक्ष और प्रतिपक्ष को स्वीकार कर के किया जाता है उसे वाद कहते हैं । जिस में छल, जाति, तथा निग्रहस्थानों द्वारा भी साधन और दूषण दिये जाते हैं, जो सिद्धान्त के विरुद्ध नही होता, पांच अवयवों से संपन्न होता है, तथा पक्ष और प्रतिपक्ष को स्वीकार करके किया जाता है उसे जल्प कहते हैं । जल्प में ही यदि प्रतिपक्ष की स्थापना न की जाय तो उसे वितण्डा कहते हैं । वाद तत्त्व के ज्ञान के लिए होता है । जिस प्रकार बीज से निकले हुए अंकुर के रक्षण के लिए काँटोभरी बाड लगाई जाती है उसी तरह तत्त्वज्ञान के संरक्षण के लिए जल्प और वितण्डा होते हैं । जल्प और वितण्डा विजय की इच्छा से किये जाते हैं, क्यों कि वे तत्त्वज्ञान के संरक्षण के लिए होते हैं, चार अंगों से (वादी, प्रतिवादी, सभापति तथा सभासदों से) संपन्न होते हैं, लाभ, सत्कार तथा कीर्ति के इच्छुक लोगों द्वारा किये जाते हैं, मत्सरी वादियों द्वारा किये जाते हैं, प्रतिवादी की गलती होते ही समाप्त किये जाते हैं, छल इत्यादि से सहित होते हैं, इस सब के उदाहरण के रूप में श्रीहर्ष की कथा (जल्प और वितण्डा) समझनी चाहिए ।

त्वात् चतुरङ्गत्वात् लाभपूजाख्यातिकामैः प्रवृत्तत्वात् समस्तैः कृतत्वात् प्रतिवादिस्खलितमात्रपर्यवसानत्वात् छलादिरहितत्वात् श्रीहर्षकथावत्। तथा वादस्तत्वाध्यवसायसंरक्षणरहितादिमान् चतुरङ्गादिरहितत्वात् श्रीहर्षकथावत् इति पूर्वपूर्वप्रसाध्यत्वे इतरे पञ्च हेतुत्वेन द्रष्टव्याः। तत् सकलहेतुसमर्थनार्थं च वादस्तत्वाध्यवसायसंरक्षणरहितादिमान् अविजिगीषुविषयत्वात् श्रीहर्षकथावत् इत्यपरः कश्चित् तार्किकः कथात्रयं प्रत्यतिष्ठिपत् तदेतत् सर्वं क्रमेण विचार्यते ॥

[१०६. वादलक्षणखण्डनम्]

तत्र प्राचीनपक्षे साधनं दूषणं चापि सम्यगेव प्रयुज्यते इति वादलक्षणम् असमञ्जसम्। वादिना पक्षहेतुदृष्टान्तदोषवर्जितसत्साधनोपन्यासे प्रतिवादिनः सद्दूषणोद्भावनासंभवात्। प्रतिवादिना व्याप्तिपक्ष-

---

(इस के प्रतिकूल) वाद में तत्त्व के निश्चय का संरक्षण आदि उपर्युक्त बातें नही होतीं, क्यों कि चार अंगों से संपन्न होना आदि उपर्युक्त बातें उस मे नही होतीं, इस के उदाहरण के रूप में श्रीहर्ष की कथा (वाद) समझनी चाहिए। इन उपर्युक्त (तत्त्व का संरक्षक होना आदि पांच) बातो में पहली साध्य हो तो बाद की उस की साधक हेतु होती है ऐसा समझना चाहिए। इन सभी हेतुओं का समर्थन इस प्रकार होता है – वाद में तत्त्व के निश्चय का संरक्षण आदि बाते नही होतीं क्यो कि वह विजय की इच्छा से नही किया जाता उदाहरणार्थ – श्रीहर्ष की कथा (वाद)। इस प्रकार किसी दूसरे तार्किक (तर्कशास्त्रज्ञ विद्वान) ने तीन कथाओं की स्थापना की है। अब इन सब बातों का क्रमशः विचार करेंगे।

वाद के लक्षण का खण्डन

उपर्युक्त वाद–लक्षण मे पहले पक्ष ने यह कहा है कि वाद में साधन और दूषण उचित हों तो ही उन का प्रयोग किया जाता है–यह कथन सुसंगत नही है। जब वादी ऐसे उचित साधन (हेतु) का प्रयोग करे जिस में पक्ष, साध्य या दृष्टान्त का कोई दोष न हो तो प्रतिवादी उस हेतु में उचित दूषण नही बतला सकता। यदि प्रतिवादी कोई ऐसा उचित दूषण बतलाता है जिस से हेतु की व्याप्ति में या पक्ष का धर्म होने मे गलती निश्चित

[illegible]निश्चायकसद्दूषणोद्भावने स्थापनाहेतोः सत्साधनत्वायोगात्। कथं द्वयोः सम्यक्त्वं जाघटीति। यदि यथोक्तसत्साधनोपन्यासेऽपि सद्दूषणोद्भावनं बोभवीति तर्हि न किंचित् सत्साधनं स्यादिति न कस्यापि स्वपक्षसिद्धिः। सद्दूषणस्यापि सत्साधनपूर्वकत्वात् तदभावे तस्याप्यभावः स्यादिति सर्वं विप्लवते। तस्मादेकविषयसाधनदूषणयोरेकेन आभासेन भवितव्यम्। ननु वादे सत्साधनदूषणोपन्यास इत्यभिप्रायनियमो न वस्तुनियम इति चेन्न। स्थापनाहेतोः सत्साधनत्वनिश्चये प्रतिवादिनः सद्दूषणोद्भावनाभिप्रायायोगात्। स्वहेतौ सद्दूषणोद्भावननिश्चये वादिनः सत्साधनप्रयोगाभिप्रायायोगाच्च। ननु तदभावे वादिप्रतिवादिनोः सत्साधनदूषणप्रयोगोद्भावनाभिप्रायो न जाघटीति इति

होती हो तो (उस का अर्थ यह है कि) (वादी द्वारा अपने पक्ष की) स्थापना के लिए दिया गया हेतु उचित साधन नहीं हो सकता। दोनों (साधन और दूषण) उचित कैसे हो सकते हैं। यदि ऊपर कहे हुए प्रकार से उचित साधन का प्रयोग करने पर भी उचित दूषण बतलाया जा सकता हो तो कोई भी साधन उचित नहीं होगा अतः कोई भी अपने पक्ष को सिद्ध नहीं कर सकेगा। उचित दूषण भी तभी संभव है जब उचित साधन हो, यदि उचित साधन का अभाव हो तो उचित दूषण का भी अभाव होगा अतः सब गडबडी हो जायगी। इस लिए एक ही विषय में जो साधन और दूषण प्रयुक्त होते हैं उन में एक आभास होना ही चाहिए (या तो साधन गलत होगा या दूषण गलत होगा)। यहां प्रतिपक्षी कहते हैं कि वाद में उचित साधन और दूषण ही प्रयुक्त किये जाने का (वादी और प्रतिवादीका) अभिप्राय होना चाहिए यह हमारा नियम है, वस्तुतः (उचित ही साधन और दूषण होंगे ऐसा) नियम नहीं है, किन्तु यह कहना ठीक नहीं है। यदि मूल पक्ष की स्थापना करनेवाला हेतु उचित साधन है ऐसा निश्चय होता है तो प्रतिवादी के मन में उचित दूषण बतलाने का अभिप्राय नहीं हो सकता। यदि वादी को यह निश्चय हो कि उस के हेतु में उचित दूषण बतलाया जा सकता है तो उस का अभिप्राय उचित साधन प्रस्तुत करने का नहीं हो सकता। ऐसा न हो तो वादी का अभिप्राय उचित साधन प्रस्तुत करने का नहीं हो सकेगा तथा प्रतिवादी का अभिप्राय उचित दूषण बतलाने

चेन्न। उक्तप्रमेये सत्साधनसद्भावे सद्दूषणाभावः, सद्दूषणसद्भावे सत्साधनाभावः इति प्रागेव शिक्षाकाले निश्चितत्वात्। ततो नाभिप्राय-नियमोऽपि। न वस्तुनियम इति स्वयमेव प्रत्यपीपदत् अत्रास्माकं न प्रयासः। तस्मात् वादलक्षणमयुक्तं परस्य ॥

[१०७. जल्पलक्षणखण्डनम्]

जल्पे तदाभासोऽपि युज्यत इति अयुक्तम्। जल्पस्य चतुरङ्गत्वेन सभामध्ये क्रियमाणत्वात् तत्र तदाभासप्रयोगनिषेधात्। तत् कथमिति चेत् 'स्वयं नैवाभिधेयानि छलादीनि सभान्तरे' इत्यभिहितत्वात्। अथ 'एकान्तेन तदा प्राप्ते प्रयोज्यानि पराजये' इत्यभिधानात् तत्प्रयोगो

का नही हो सकेगा यह कथन भी ठीक नही। अमुक विषय में उचित साधन संभव हो तो उचित दूषण नही हो सकता तथा उचित दूषण संभव हो तो उचित साधन नही हो सकता यह तो (वे वादी और प्रतिवादी) अध्ययन के समय ही निश्चित कर लेते हैं। अतः (वादी और प्रतिवादी का) अभिप्राय उचित प्रयोग का ही होगा यह नियम भी नही हो सकता। वस्तुतः उचित ही प्रयोग होता है ऐसा नियम नही है यह आपने स्वयं कहा है अतः इसे सिद्ध करने का प्रयास करने की हमें जरूरत नही है। अतः (वाद में उचित साधन और उचित दूषण ही प्रयुक्त होते है यह) प्रतिपक्षी द्वारा कहा हुआ वाद का लक्षण अयोग्य है।

जल्प के लक्षण का खण्डन

जल्प में साधन और दूषण के आभास का भी प्रयोग होता है यह कथन उचित नही। जल्प चार अंगों से (सभापति, सभासद, वादी तथा प्रतिवादी से) संपन्न होता है तथा सभा में किया जाता है अतः जल्प में साधनाभास तथा दूषणाभास के प्रयोग का निषेध है। वह किस प्रकार है इस प्रश्न का उत्तर है कि 'स्वयं सभा में छल इत्यादि का उपयोग कभी नही करना चाहिये' ऐसा कहा गया है। यहां शंका होती है कि 'जहां पराजय निश्चित प्रतीत हो वहां छल आदि साधनाभास–दूषणाभासों का प्रयोग करना चाहिये' इस कथन से छल आदि के उपयोग का विधान भी मिलता है किन्तु यह कथन उचित नही। ऐसे छल आदि का प्रयोग करने

क्रियेत इति चेन्न। तदुद्भावने पराजयस्यावश्यंभावित्वेन तत्प्रयोगा-प्रयोगात्। ननु अनुद्भावने साम्यं भविष्यतीति धिया प्रयुज्यत इति चेन्न। सत्साधनदूषणापरिज्ञानात् तदाभासप्रयोगोद्भावनस्य च वादेऽपि समानत्वात्। इत्यतिव्यापकं जल्पस्य लक्षणम्। किं च 'वर्जनोद्भावने चैषां स्ववाक्यपरवाक्ययोः' इत्यभिधानात् तद्वर्जनस्यैव विधानं न तत्प्रयोगस्य। ननु परवाक्ये तदुद्भावनान्यथानुपपत्तेः जल्पे तत्प्रयोगोऽस्तीति चेन्न। सत्साधनदूषणापरिज्ञानात् तत्प्रयोगस्य वादेऽप्यविशेषात्॥

[१०८. वादजल्पयोः अभेदः]

तस्मात् सम्यक्साधनदूषणवत्त्वेन वादान्न भिद्यते जल्पः। तद्-

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

पर जब प्रतिवादी उस का दूषित स्वरूप स्पष्ट करता है तब पराजय निश्चित होता है अतः छल आदि के प्रयोग का विधान ठीक नही है। यदि प्रतिवादी दोष न बता सके तो वादी-प्रतिवादी में समानता सिद्ध होगी इस इच्छा से छल आदि का प्रयोग किया जाता है यह कथन भी उचित नही। उचित साधन तथा दूषण न सूझने पर साधनाभास तथा दूषणाभास का प्रयोग करना तथा उन्हें बतलाना वाद में भी समान रूपसे पाया जाता है। अतः यह जल्प का लक्षण अतिव्यापक है (उस में वाद का भी समावेश हो जाता है)। 'अपने वाक्यों में छल आदि को टालना चाहिए तथा दूसरे के वाक्यों मे इन दोषों को पहचान कर प्रकट करना चाहिए' इस कथन से भी छल आदि को टालने का ही विधान मिलता है – उन के प्रयोग करने का नही। यदि प्रतिपक्षी के वाक्य में छल आदि न हों तो उन्हें पहचानना संभव नही, किन्तु जल्प में प्रतिपक्षी के वाक्य मे ये दोष पहचानने का विधान है, अतः जल्प में इन का प्रयोग भी होता है यह कथन भी उचित नही। उचित साधन और दूषण न सूझने पर साधनाभास–दूषणाभासों का प्रयोग समान रूप से वाद में भी पाया जाता है (अतः इसी कारण से वाद से जल्प को भिन्न बतलाना संभव नही है)।

वाद और जल्प में भेद नही है

उपर्युक्त प्रकार से जल्प में भी उचित साधनों और उचित दूषणों का ही प्रयोग होता है अतः वह वादसे भिन्न नही है। इसी तरह वादवितण्डा भी जल्प-
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

वितण्डापि वादवितण्डातो न भिद्यते। ततो वादो जल्प इत्यनर्थान्तरम्। तद्वितण्डेऽपि तथा। तत एव कथाया वीतरागविजिगीषुविषयविभागो नास्त्येव। तथा च प्रयोगः। कथा वीतरागविजिगीषुविषयविभागरहिता प्रमाणवाक्यसाधनोपालम्भत्वात् प्रसिद्धविचारवत्। अयमसिद्धो हेतुरिति चेन्न। वीतो विचारः प्रमाणवाक्यसाधनोपालम्भः सत्साधनदूषणोपेतत्वात् वस्तुविषयत्वाच्च प्रसिद्धविचारवदिति तत्सिद्धेः। तथा जल्पो वीतरागकथा सिद्धान्ताविरुद्धार्थविषयत्वात् पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहत्वात् निग्रहस्थानवत्त्वाच्च वादवत्। अपि च वादो विजिगीषुकथा पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहत्वात् निग्रहस्थानवत्त्वात् सिद्धान्ताविरुद्धार्थविषयत्वात् जल्पवत्। अथ

वितण्डासे भिन्न नही है। अतः वाद और जल्पमें कोई अन्तर नही है तथा उन की वितण्डाओं में भी अन्तर नहीं है। इसीलिए वीतराग कथा तथा विजिगीषु कथा इस प्रकार कथा के विषयों का विभाजनही ठीक नही है। इसी को अनुमान प्रयोग के रूप में बतलाते हैं। सर्वत्र प्रसिद्ध विचारविमर्श के समान कथा में भी प्रमाण वाक्य ही साधन और दूषण होते हैं अतः कथा में वीतराग कथा तथा विजिगीषु कथा इस प्रकार विषयों का विभाजन नही हो सकता यह हेतु (प्रमाणवाक्य ही साधन और दूषण होना) असिद्ध है यह कथन ठीक नहीं क्यों कि उक्त विचार (कथा) प्रसिद्ध विचारविमर्श के समान ही उचित साधनों और उचित दूषणों से युक्त होता है तथा वह वस्तु के विषय में होता है अतः उस में साधन और दूषण प्रमाणवाक्य ही हो सकते हैं इस प्रकार उक्त हेतु सिद्ध होता है। इसी प्रकार (दूसरा अनुमानप्रयोग हो सकता है —) जल्प भी वाद के समान वीतराग कथा है क्यों कि वह सिद्धान्त से अविरोधी वस्तु के विषय में होता है, पक्ष और प्रतिपक्ष स्वीकार करके किया जाता है तथा निग्रहस्थानों से युक्त होता है। इसी प्रकार वाद भी जल्प के समान विजिगीषु कथा है क्यों कि वह पक्ष और प्रतिपक्ष स्वीकार कर के किया जाता है, निग्रहस्थानों से युक्त होता है तथा सिद्धान्त से अविरोधी वस्तु के विषय में होता है। वाद निग्रहस्थानों से युक्त होता है यह कथन असिद्ध है यह कहना ठीक नही क्यों कि वाद भी जल्प के समान विचार की समाप्ति तक किया जाता है अतः वह निग्रहस्थानों से युक्त होता ही है। वाद और

वादस्य निग्रहस्थानवत्त्वमसिद्धमिति चेन्न । वादो निग्रहस्थानवान् परिसमाप्तिमद्विचारत्वात् जल्पवदिति । कथाया अविशेषेण वीतरागविजिगीषुविषयत्वे 'वीतरागकथे वादवितण्डे निर्णयान्ततः। विजिगीषुकथे जल्पवितण्डे तदभावतः' इत्ययं कथाविभागो न जाघटीति ॥

[१०९. वादस्य प्रमाणसाधनत्वम्]

अथैतन्नाक्षपादपक्षे वादः प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः इत्यत्र प्रमाणं नाम न प्रत्यक्षम्। विप्रतिपन्नं प्रति तस्य साधनदूषणयोः असमर्थत्वात्। नागमोऽपि तं प्रति तस्यापि तादृशत्वात्। अपि तु अनुमानमेव। तदप्यु-

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

जल्प दोनों तब समाप्त किये जाते हैं जब विचारविमर्श में एक पक्ष का जय और दूसरे का पराजय होता है, पराजय के कारण को ही निग्रहस्थान कहते है, अतः वाद और जल्प दोनों में निग्रहस्थान होते हैं। कथा में वीतराग तथा विजिगीषु इस प्रकार का विषयों का विशिष्ट विभाजन नही होता इस लिए ' वाद तथा वादवितण्डा वीतराग कथाएं हैं क्यों कि वे निर्णय होनेतक की जाती है तथा जल्प और जल्पवितण्डा ये विजिगीषु कथाएं हैं क्यों कि उन में निर्णय का अभाव होता है' यह कथा का विभाजन उचित सिद्ध नही होता ।

वाद का साधन प्रमाण है यह कथन उचित नहीं

पूर्वोक्त नैयायिकों के कथन में वाद को प्रमाण और तर्क इन साधन-दूषणों से संपन्न बतलाया है। यहां प्रमाण शब्द से प्रत्यक्ष प्रमाण का तात्पर्य नही हो सकता क्यों कि विवाद करनेवाले के लिए प्रत्यक्ष-प्रमाण साधन या दूषण में समर्थ नही है (प्रत्यक्ष से ज्ञात वस्तु के विषय में वाद नही होता)। इसी प्रकार प्रमाण शब्द से आगम प्रमाण का तात्पर्य भी नही हो सकता क्यों कि इस विषय में उस की भी वही स्थिति है (प्रतिवादी के लिए आगम द्वारा कोई बात सिद्ध करना संभव नही क्यों कि उसे आगम मान्य ही नही है)। अर्थात् प्रमाण शब्द से अनुमान का ही तात्पर्य समझना चाहिए। वह अनुमान भी ऐसा होना चाहिये जिस की व्याप्ति दोनों (वादी व प्रतिवादी) के लिए प्रमाण से सिद्ध हो तथा जो पक्षधर्मत्व से युक्त हो। अन्यथा वह अनुमान अपने पक्ष की सिद्धि या प्रतिपक्ष के दूषण में समर्थ
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

भयप्रमाणप्रसिद्धव्याप्तिकं पक्षधर्मत्वविशिष्टम् अङ्गीकर्तव्यम्। अन्यथास्य स्वपरपक्षसाधनदूषणसामर्थ्यायोगात् ॥

[११०. वादस्य तर्कसाधनत्वम्]

तर्कोऽपि व्याप्तिबलमवलम्ब्य परस्य अनिष्टापादनम्। स चोभयप्रमाणप्रसिद्धव्याप्तिकः अन्यतरप्रमाणप्रसिद्धव्याप्तिको वा। प्रथमपक्षेऽसौ प्रमाणमेव उभयप्रमाणप्रसिद्धव्याप्तिकत्वात् धूमानुमानवत्। वीतोऽसौ तर्को न भवति उभयप्रमाणप्रसिद्धव्याप्तिकत्वात् तद्वदिति च। द्वितीयपक्षे वादिप्रमाणप्रसिद्धव्याप्तिकः प्रतिवादिप्रमाणप्रसिद्धव्याप्तिको वा। तत्र प्राचीनपक्षे विप्रतिपन्नं प्रतिवादिनं प्रति तस्य स्वपरपक्षसाधनदूषणयोः सामर्थ्यानुपपत्तिः तत्प्रमाणप्रसिद्धव्याप्तिपूर्वकत्वाभावात्। अन्यथा

नहीं हो सकेगा। (अतः वाद का साधन प्रमाण है यह कथन उचित नहीं। दोनों को मान्य व्याप्ति पर आधारित अनुमान प्रमाण ही वाद का साधन होता है।)

क्या वाद का साधन तर्क होता है ?

(वाद का साधन तर्क होता है यह उपर्युक्त लक्षण में कहा है किन्तु) तर्क का अर्थ है व्याप्ति के बल से प्रतिपक्षी के लिए अनिष्ट बात को सिद्ध करना। उस तर्क की व्याप्ति या तो (वादी और प्रतिवादी) दोनों के लिए प्रमाण-प्रसिद्ध (प्रमाणरूप मे मान्य) होगी अथवा दो में से एक के लिए प्रमाणप्रसिद्ध (तथा दूसरे के लिए अमान्य) होगी। पहले पक्ष के अनुसार यदि तर्क की व्याप्ति (वादी-प्रतिवादी दोनों के लिए प्रमाणरूप में मान्य हो तो यह तर्क भी धूम (से अग्नि के) अनुमान के समान प्रमाण ही होगा (अतः प्रमाण से भिन्न रूप में उस का उल्लेख करना व्यर्थ होगा)। यह कथन तर्क नही होगा (–प्रमाण ही होगा) क्यों कि यह धूम (से अग्नि के) अनुमान के समान ही दोनों (वादी-प्रतिवादी) के लिए मान्य व्याप्ति पर आधारित है। दूसरे पक्ष में (दोनों में किसी एक को वह व्याप्ति मान्य हो तो) या तो उस तर्क की व्याप्ति वादी के लिए प्रमाणसिद्ध होगी अथवा प्रतिवादी के लिए प्रमाणसिद्ध होगी। इन में से पहले पक्ष में जो विवाद कर रहा है उस प्रतिवादी के प्रति यह तर्क अपने पक्ष को सिद्ध करने में या प्रतिपक्ष को

सर्वेषामपि स्वप्रमाणप्रसिद्धया स्वेष्टानिष्टसाधनदूषणप्रसंगात्। पराधीन-पक्षेऽपि प्रतिवादिप्रमाणप्रसिद्धव्याप्तिकात् तर्कात् कथं वादी स्वपक्षं प्रतिष्ठापयेत्, प्रतिपक्षं च निराकुर्यात्। वादिनं प्रति तर्कस्य मूलभूत-व्याप्तेरभावात्। अथ परप्रमाणप्रसिद्धव्याप्तिकात् तर्कात् परस्य प्रकृत-हानिः अप्रकृतस्वीकारश्च विधीयत इति चेत् तर्हि तर्कात् विपक्षोपालम्भ एव स्यात्, न स्वपक्षसाधनम्। ननु प्रमाणात् साधनं तर्कादुपालम्भ इति यथासंख्यात् व्याख्यानात् तत् तथैवेति चेत् तर्हि प्रमाणादुपालम्भाभावः प्रसज्यते। अस्त्विति चेन्न। असिद्धाद्युद्भावने प्रमाणोपन्यासदर्शनात्।

दूषित सिद्ध करने में समर्थ नही हो सकता क्यों कि उसकी व्याप्ति (केवल वादी को मान्य है) प्रतिवादी के लिए प्रमाणसिद्ध नही है। अन्यथा (यदि केवल वादी की मान्यता से ही उस के पक्ष की सिद्धि हो जाय तो) सभी वादी केवल अपने पक्ष के प्रमाणभूत मानने से ही अपने इष्ट पक्ष को सिद्ध करेंगे तथा अनिष्ट (प्रतिपक्ष) को दूषित सिद्ध करेंगे। दूसरे पक्ष में भी जिस तर्क की व्याप्ति केवल प्रतिवादी को मान्य है (वादी को मान्य नही) उस से वादी अपने पक्ष को सिद्ध कैसे करेगा तथा प्रतिपक्ष का निराकरण कैसे करेगा। उस तर्क की मूलभूत व्याप्ति ही वादी को मान्य नही है (अतः वह उस से अपना पक्ष सिद्ध नही कर सकता)। जिस तर्क की व्याप्ति प्रतिपक्षी को मान्य है उस से प्रतिपक्षी को इष्ट तत्त्व का खण्डन करना तथा उसे अनिष्ट हो उस तत्त्व को स्वीकार कराना यह तर्क का कार्य है यह कहना भी उचित नही क्यों कि ऐसा कहने पर तर्क से सिर्फ विपक्ष में दोष बतलाना ही संभव होगा, अपने पक्ष को सिद्ध करना संभव नही होगा (जब कि लक्षण-सूत्र के अनुसार तर्क का उपयोग प्रतिपक्षखण्डन तथा स्वपक्ष समर्थन इन दोनों में होना चाहिए)। (मूल सूत्र में प्रमाण-तर्क-साधनोपालम्भ शब्द है इस में) प्रमाण से (स्वपक्ष का) साधन तथा तर्क से (प्रतिपक्ष का) दूषण होता है इस प्रकार क्रमशः व्याख्या करने से यही बात ठीक है ऐसा कहें तो उस का परिणाम यह होगा कि प्रमाण से (प्रतिपक्ष में) दूषण बतलाना संभव नही होगा। यह मान्य है ऐसा कहना भी संभव नही क्यों कि असिद्ध आदि (हेत्वाभासों के दोष) बतलाने में प्रमाणों का प्रयोग (देखा ही जाता

ननु प्रमाणात् साधनमुपालम्भश्च तर्कादुपालम्भ एवेति चेन्न। प्रमाण-तर्कसाधनोपालम्भ इत्यत्र तथाविधविभागनियामकत्वाभावात्। तदयुक्तं विशेषणम् ॥

[१११. वादस्य सिद्धान्ताविरुद्धत्वम्]

सिद्धान्ताविरुद्ध इत्यत्रापि वादस्य विचारत्वेन वादिप्रतिवादिनोः समानत्वात् कस्य सिद्धान्ताविरुद्धः स्यात्। न तावद् वादिसिद्धान्ता-विरुद्धः, प्रतिवादिसिद्धान्तोपन्यासस्य वादिसिद्धान्तविरुद्धत्वात्। न प्रति-वादिसिद्धान्ताविरुद्धोऽपि, वाद्युपन्यासस्य प्रतिवादिसिद्धान्तविरुद्धत्वात्। नाप्युभयसिद्धान्ताविरुद्धः। वादिप्रतिवादिनोः परस्परविरुद्धार्थोपन्यास-दर्शनात्। ततो न कस्यापि सिद्धान्ताविरुद्धः स्यात्। तस्मादेतद् विशेष-णमप्ययुक्तम् ॥

है। प्रमाण से (स्वपक्ष का) साधन तथा (प्रतिपक्ष का) दूषण दोनों होते हैं और तर्क से केवल (प्रतिपक्ष का) दूषण होता है यह कहना भी ठीक नही क्यों कि प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ इस शब्द में इस प्रकार का विभाजन करने का कोई नियमित कारण नहीं है। अतः (वाद के लक्षण में) यह विशेषण उचित नही है।

क्या वाद सिद्धान्त से अविरोधी होता है ?

(उपर्युक्त लक्षण मे वाद को) सिद्धान्त से अविरोधी कहा है यहां भी (विचारणीय है कि) वाद में विचारविमर्श होता है अतः वह वादी और प्रतिवादी दोनों के लिए समान है फिर उसे किस के सिद्धान्त से अविरोधी कहा जाय ? वह वादी के सिद्धान्त से अविरोधी नहीं हो सकता क्यों कि प्रतिवादी जब अपने सिद्धान्त का वर्णन करता है तो वह वादी के सिद्धान्त के विरुद्ध होता ही है। इसी तरह वाद प्रतिवादी के सिद्धान्त से अविरोधी भी नहीं हो सकता क्यों कि वादी का वर्णन प्रतिवादी के सिद्धान्त के विरुद्ध होता ही है। वाद (वादी और प्रतिवादी इन) दोनों के सिद्धान्तों से अविरोधी होता है यह कहना भी सम्भव नही क्यों कि वे वादी और प्रतिवादी परस्पर विरुद्ध अर्थ का वर्णन करते देखे जाते हैं। अतः वाद किसी के भी सिद्धान्त से अविरोधी नही होता। अतः यह विशेषण भी योग्य नहीं है।

[११२. वादस्य पञ्चावयवत्वम्]

पञ्चावयवोपपन्न इत्यत्र पञ्चभिरवयवैः उपपन्नो निष्पन्न इति वक्तव्यम्। न च तेषां मते पृथिव्यप्तेजोवायुपरमाणुद्व्यणुकादिव्यतिरेकेण अन्ये अवयवाः सन्ति, न च वादस्तैरुपपन्नः। तस्य पार्थिवाद्यवयवित्वाभवात् विप्रतिपन्नार्थविचाररूपत्वाच्च व्यतिरेके पटवत्। अथ प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः तैरुपपन्नो वाद इति चेन्न। प्रतिज्ञादीनां वाक्यत्वेन शब्दरूपत्वात्, शब्दस्य च तन्मते आकाशगुणत्वेन अवयवरूपताभावात्। तथा हि। न प्रतिज्ञादिवाक्यानि अवयवाः शब्दत्वात् वीणावादनवत्, स्पर्शादिरहितत्वात् गुणत्वात् अमूर्तत्वात् रूपादिवत्। न वादोऽप्यवयवैः उपपन्नः अनवयवित्वात् अद्रव्यत्वात् अमूर्तत्वात् स्पर्शादिरहितत्वात् रूपादिवत्। किं च। प्रतिज्ञादिवाक्यानामवयवरूपत्वाङ्गीकारे तेषां रूपादिमत्त्वं तैरुपपन्नस्यावयवित्वं प्रसज्यते। तथाहि। प्रतिज्ञादिवाक्यानि

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

वाद के पांच अवयव

वाद को पंचावयवोपपन्न कहा है। यहां पांच अवयवों से उपपन्न अर्थात निर्मित होना यह अर्थ कहना चाहिए। किन्तु उन के मत में (न्यायदर्शन में) पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु के परमाणुओं और द्व्यणुकों आदि से भिन्न कोई दूसरे अवयव नही माने गये हैं तथा वाद इन (परमाणु आदि अवयवों) से निर्मित नही होता। वाद पृथ्वी आदि से निर्मित अवयवी नही है, वह विवादग्रस्त विषय के बारे में विचार के रूप का होता है, अतः वह वस्त्र आदि के समान अवयवों से निष्पन्न नही होता। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पांच अवयव हैं उन से वाद निष्पन्न होता है यह कहना भी ठीक नही क्यों कि प्रतिज्ञा आदि वाक्य होते हैं, वे शब्दों से निर्मित हैं तथा न्याय मत में शब्द को आकाश का गुण माना है अतः उस में अवयवों का रूप नही हो सकता। इसी को अनुमान के रूप में प्रस्तुत करते हैं–प्रतिज्ञा आदि वाक्य अवयव नही हो सकते क्यों कि वे वीणावादन आदि के समान शब्द हैं तथा रूप आदि के समान स्पर्शादि रहित है तथा गुण हैं एवं अमूर्त हैं। वाद भी अवयवों से निष्पन्न नही होता, वह अवयवी नही है, द्रव्य नही है; मूर्त नही है तथा स्पर्श आदि से रहित है अतः रूप
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

रूपादिमन्ति अवयवित्वात् तन्त्वादिवत्। वादोऽप्यवयविद्रव्यम् अवयवैः उपपन्नत्वात् पटादिवदिति। तस्मात् तेषाम् अवयवरूपता नाङ्गीकर्तव्या। तथा च न वादः पञ्चावयवोपपन्नः स्यात्॥

[११३. वादानुमानयोर्भेदः]

किं च। प्रतिज्ञादिभिर्वाक्यैरनुमानमेवोपपद्यते, न वादः। अथ अनुमानमेव वाद इति चेन्न। अनुमानप्रमाणस्य वादव्यपदेशाभावात्। ननु परार्थानुमानस्यैव वादव्यपदेश इति चेन्न। ग्रन्थस्थानुमानानां परार्थानुमानत्वेऽपि वादव्यपदेशाभावात्। अथ आत्मविभुत्ववादः शब्दनित्यत्ववादः इति ग्रन्थस्थानुमानानां वादव्यपदेशोऽस्तीति चेन्न। वादिप्रति-

आदि के समान वह भी अवयवों से निर्मित नही है। प्रतिज्ञा आदि वाक्यों को अवयव माने तो वे रूप आदि से युक्त सिद्ध होंगे तथा उन से निर्मित (वाद) को अवयवी मानना होगा। जैसे कि – प्रतिज्ञा आदि के वाक्य अवयव हैं अत: तन्तु आदि के समान वे भी रूप आदि से युक्त होंगे। वाद अवयवों से निर्मित है अत: वस्त्र आदि के समान वह भी अवयवी द्रव्य सिद्ध होगा। अतः उन प्रतिज्ञा आदि वाक्यों को अवयव नही मानना चाहिए। अत: वाद पांच अवयवों से निष्पन्न नही होता।

वाद और अनुमान में भेद

दूसरी बात यह है कि प्रतिज्ञा आदि वाक्यों से अनुमान प्रस्तुत किया जाता है – वाद नही। अनुमान ही वाद है यह कहना ठीक नही क्यों कि अनुमान प्रमाण को वाद यह नाम नही दिया जाता। परार्थ-अनुमान को ही वाद यह नाम दिया जाता है यह कहना भी ठीक नही क्यों कि ग्रन्थों में लिखे हुए अनुमान परार्थ अनुमान होते हुए भी उन्हें वाद नही कहा जाता। ग्रन्थों में लिखित अनुमानों को भी आत्मविभुत्ववाद, शब्दानित्यत्ववाद इस प्रकार वाद यह नाम दिया जाता है यह कहना भी ठीक नही क्यों कि (न्यायदर्शन के लक्षणानुसार) वादी और प्रतिवादी पक्ष और प्रतिपक्ष का स्वीकार कर के जो विचार करते हैं उसे ही वाद कहा जाता है। दूसरी बात यह है कि अनुमान अवयवों से बनता है इस कथन में भी पहले कहा

-वादिभ्यां पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण क्रियमाणस्य विचारस्यैव वादव्यपदेशात्। किं च। अनुमानस्यापि अवयवैरुपपन्नत्वाङ्गीकारे प्राक्तनाशेषदोषः प्रसज्यते ॥

[११४. प्रकारान्तरेण पञ्चावयवविचारः]

ननु पक्षसाधनं प्रतिपक्षसाधनदूषणं साधनसमर्थनं दूषणसमर्थनं शब्ददोषवर्जनमिति अवयवाः पञ्च तैरुपपन्नो वाद इति चेन्न। पक्षसाधनादीनां वाक्यत्वेन शब्दरूपत्वात् प्राक्तनाशेषदोषानतिवृत्तेः। किं च। वादिना सत्साधनोपन्यासे प्रतिवादिनः सद्दूषणोद्भावनासंभवेन तूष्णींभावे अथवा प्रतिवाद्युद्भावितासद्दूषणपरिहारेण प्रतिवादिनः तूष्णींभावेऽपि पञ्चकस्यानुपपत्तेः कथं तदुपपन्नत्वं वादस्य। अथवा प्रतिवादिना सद्दूषणोद्भावने वादिनः साधनसमर्थनाभावेन प्रतिवादिना स्वपक्षे

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

हुआ संपूर्ण दोष (कि प्रतिज्ञा आदि वाक्य होने से अवयव नही हो सकते) प्राप्त होता है (अतः अनुमान अथवा वाद अवयवों से उपपन्न होता है यह कथन ठीक नही है)।

भिन्न प्रकार से पांच अवयवों का विचार

अपने पक्ष को सिद्ध करना, प्रतिपक्ष की सिद्धि में दूषण बतलाना, (अपने) साधन का समर्थन करना, (प्रतिपक्ष के) दूषण का समर्थन करना तथा शब्द के दोषों को टालना ये पांच अवयव हैं, इन से वाद संयुक्त होता है यह कथन भी ठीक नही। पक्ष का साधन आदि ये पांच अवयव भी वाक्यही हैं अतः शब्दों से बने हैं अतः पूर्वोक्त सभी दोष यहां भी दूर नही होता (इन वाक्यों को भी अवयव नही कहा जा सकता)। दूसरी बात यह है कि जब वादी उचित साधन प्रस्तुत करता है तथा प्रतिवादी उचित दूषण बतलाना संभव न होने से चुप रहता है, अथवा प्रतिवादी द्वारा बताये गये झूठे दूषण को दूर करने पर जब प्रतिवादी चुप रहता है तब भी (उस वाद में) ये पांच अवयव नही हो सकते (केवल पक्षसाधन यह एकही अवयव होगा अथवा पक्षसाधन, प्रतिपक्ष दूषण तथा दूषणपरिहार ये तीन ही अवयव होंगे) अतः वाद पांच अवयवों से संयुक्त कैसे होगा। अथवा प्रतिवादी के उचित दूषण बतलाने पर जब वादी अपने पक्ष का समर्थन नही कर पाता तथा प्रतिवादी
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

स स्वसाधनोपन्यासे वादिनः प्रतिपक्षसाधनदूषणसमर्थनयोः अभावेनापि पञ्चकत्वानुपपत्तेः अव्यापकत्वं लक्षणस्य। तस्मात् पञ्चावयवोपपन्न इत्येतदपि विशेषणमयुक्तं परस्य ॥

[११५. वादस्य पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहत्वम्]

पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वाद इत्यपि असमञ्जसम्। कदाचित् स्वस्यापि नित्यानित्यादिपक्षप्रतिपक्षपरिग्रहस्य विद्यमानत्वेऽपि तस्य वादत्वाभावात्। अथ वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वाद इति चेन्न। सौगतसांख्ययोः यौगवेदान्तिनोः सर्वदा पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहस्य विद्यमानेऽपि वादत्वाभावात्। अथ पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण विचारो वाद इति चेन्न। स्वस्यैकस्य तत्सद्भावेऽपि वादत्वाभावात्। अथ वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण क्रियमाणो विचारो वाद इति चेन्न। जल्पवितण्डयो-

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

जब अपने पक्ष में उचित साधन प्रस्तुत करता है तब वादी उस प्रतिपक्ष के साधन में दोष नहीं बतला सकता तथा उस का समर्थन भी नही कर सकता तब भी इन (स्वपक्षसमर्थन तथा प्रतिपक्षदूषण एवं दूषणसमर्थन) अवयवों के अभाव में पांच अवयव पूरे नही हो सकते अतः इस प्रकार भी वाद का यह लक्षण अव्यापक ही रहेगा। इसलिए पंचावयवोपपन्न यह प्रतिपक्षीद्वारा दिया हुआ वाद का विशेषण भी अयोग्य है।

वाद में पक्षप्रतिपक्ष का स्वीकार

पक्ष और प्रतिपक्ष के स्वीकार करने से वाद होता है यह कहना भी उचित नही। किसी किसी समय (एक व्यक्ति) स्वयं ही नित्य-अनित्य जैसे पक्ष और प्रतिपक्ष का स्वीकार करता है किन्तु वह वाद नही होता। वादी और प्रतिवादी का पक्ष और प्रतिपक्ष स्वीकार करना यह वाद कहलाता है यह कथन भी ठीक नही। बौद्ध और सांख्य, तथा नैयायिक और वेदान्ती इन में पक्ष और प्रतिपक्ष का स्वीकार सदा ही बना रहता है किन्तु उसे वाद नही कहते। पक्ष और प्रतिपक्ष के स्वीकार से किये गये विचार को वाद कहते हैं यह कथन भी उचित नही क्यों कि ऐसा विचार एक व्यक्ति स्वयं भी कर सकता है। वादी और प्रतिवादी द्वारा पक्ष और प्रतिपक्ष स्वीकार कर के किये गये विचार को वाद कहते हैं यह कहना भी ठीक नही क्यों
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

एतत्स्वरूपेऽपि वादव्यपदेशाभावात् । अथ पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण सत्साधनदूषणोपन्यासेन च वादिप्रतिवादिनोः विचारो वाद इति चेन्न । लक्षणसूत्रे तथाविधविशेषणाभावात् । तस्मात् लक्षणसूत्रमेतदयुक्तम् ॥

[११६. जल्पलक्षणविचारः]

जल्पलक्षणेऽपि छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भ इत्यसंगतम् । तेषां साधनदूषणसामर्थ्यायोगात् । तथा हि । छलादयो न साधनसमर्थाः साधनाभासत्वात् दूषणाभासवत् । नोपालम्भसमर्थाश्च दूषणाभासत्वात् कल्पितचौर्यवत् । आभासाश्छलादयः असत्साधनदूषणत्वात् तद्वत् । असत्साधनदूषणास्ते सत्साधनदूषणयोरपठितत्वात् अन्यतरपक्षनिर्णयाकारकत्वाच्च श्रद्धाशापादिवत् । ततो जल्पलक्षणसूत्रमपि युक्त्या न संभाव्यते ॥

कि जल्प और वितण्डा मे ऐसा विचार होने पर भी उन्हें वाद नहीं कहा जाता। पक्ष और प्रतिपक्ष का ग्रहण कर के उचित साधनों और दूषणों को प्रस्तुत करते हुए वादी और प्रतिवादी जो विचार करते हैं उसे वाद कहा जाता है यह कथन भी उचित नही क्यों कि वाद के लक्षण के सूत्र मे ऐसे विशेषण नहीं दिये गये हैं । अतः यह लक्षण-सूत्र अयोग्य है ।

जल्प के लक्षण का विचार

जल्प के लक्षण मे उसे छल, जाति निग्रहस्थान इन साधनों व दूषणों से संपन्न कहा है यह अनुचित है क्यों कि छल आदि में साधन या दूषण का सामर्थ्य नहीं हो सकता। छल आदि दूषणाभास के समान (स्वपक्ष के) साधन में समर्थ नहीं हो सकते क्यों कि वे साधनाभास हैं । छल आदि (प्रतिपक्ष के) दूषण मे भी समर्थ नहीं हैं क्यों कि वे कल्पित चोरी के समान दूषणाभास हैं । छल इत्यादि आभास हैं क्यों कि वे कल्पित चोरी के समान सत्-साधन या सत्-दूषण नहीं हैं । श्रद्धा अथवा शाप के समान छल आदि भी सत-साधनों व सत्-दूषणों में समाविष्ट नहीं हैं तथा किसी एक पक्ष का निर्णय भी नहीं करा सकते अतः वे सत्-साधन या सत्-दूषण नहीं हैं । इस प्रकार जल्प के लक्षण का सूत्र भी युक्ति संगत नहीं है ।

[११७. वितण्डालक्षणविचारः]

तदसंभवे स एव प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा इत्यप्यसांप्रतम् वादे जल्पे च पक्षप्रतिपक्षयोः मध्ये अन्यतरस्य निराकरणे अपरस्य साधनप्रयोगमन्तरेण सुप्रतिष्ठितत्वात् अर्थिप्रत्यर्थिनोः एकस्य तप्तायःपिण्डग्रहणादिना दौस्थ्ये अपरस्य तद्ग्रहणमन्तरेण सौस्थ्यसंभववत्। वादिना सत्साधनोपन्यासे प्रतिवादिनः सद्दूषणादर्शनेन तूष्णींभावेन तेन दूषणाभासोद्भावने वादिना तत्परिहारे च वादे जल्पेऽपि प्रतिपक्षस्थापनासंभवाच्च। ननु सोऽपि वितण्डा भविष्यतीति चेन्न। यत्र प्रतिवादिना स्थापनाहेतुं निराकृत्य तूष्णीमास्ते सा वितण्डा इत्यङ्गीकारात्। अत्र तु वादे स्थापनाहेतुनिराकरणाभावेन प्रतिवाद्युद्भावितदूषणाभासस्यैव निराकृतत्वात्। तावताप्रतिभया प्रतिवादिनः तूष्णींभावात् केयं

वितण्डा का लक्षण

जल्प के लक्षण में उपर्युक्त असंगति होने से 'वही जल्प प्रतिपक्ष की स्थापना से रहित होने पर वितण्डा कहलाता है' यह कथन भी अनुचित सिद्ध होता है। वाद में और जल्प में भी पक्ष और प्रतिपक्ष में किसी एक का निराकरण करने से दूसरा पक्ष किसी समर्थक अनुमान–प्रयोग के बिना भी विजयी सिद्ध होता है; (जैसे न्यायालय में) वादी और प्रतिवादी इन दोनों में से तपे हुए लोहे के गोले को पकडने जैसी परीक्षा से एक पक्ष के गलत सिद्ध होने पर दूसरा पक्ष वैसी परीक्षा के बिना भी सही सिद्ध होता है (तात्पर्य – वाद या जल्प में पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों का समान रूप से समर्थन होना ही चाहिए ऐसा नही है, एक पक्ष के पराजय से दूसरे का विजय स्वतःसिद्ध हो जाता है)। वादी जब उचित हेतु का प्रयोग करता है और प्रतिवादी उस में उचित दोष नही देख पाता तब चुप रहता है (तथा यदि) प्रतिवादी झूठमूठ दोष बतलाता है तो वादी उस का उत्तर देता है (तब फिर प्रतिवादी चुप हो जाता है) इस प्रकार वाद और जल्प में भी प्रतिपक्ष की स्थापना संभव नही है। ऐसे प्रसंग को भी वितण्डा कहेंगे यह कहना भी संभव नही क्यों कि जहां प्रतिवादी स्थापना के हेतु का निराकरण कर के ही चुप हो जाता है वह वितण्डा है ऐसा (नैयायिकों का) कथन

कथा स्यात्। न तावत् जल्पवितण्डे तल्लक्षणाभावात्। वाद एवेति वक्तव्यम्। अथ वादे दूषणाभासोद्भावना नोपयुज्यतीति चेन्न। सत्साधनोपन्यासे सद्दूषणोद्भावनस्यासंभवात्। न च व्याप्तिपक्षधर्मवत्सत्साधनस्य सद्दूषणं संभवति। अन्यथा एकस्यापि सत्साधनस्यासंभवात् न कस्यापि स्वपक्षसिद्धिः स्यात्। सद्दूषणस्यापि सत्साधनपूर्वकत्वात् तदभावे तस्याप्यभावः स्यादिति सर्वं विप्लवते। तस्मादेकविषयसाधनदूषणयोः एकेनाभासेन भवितव्यम्। तत एव वादेऽपि साधनदूषणाभासप्रयोगोद्भावनं प्रतिपक्षस्थापनाभावश्च संभाव्यते

है। इस प्रसंग में वाद में स्थापना के हेतु का निराकरण तो नहीं हुआ है, सिर्फ प्रतिवादी द्वारा बताये गये झूठे दूषण का ही निराकरण किया है। उस के बाद कुछ न सूझने से प्रतिवादी चुप हुआ है। अतः इस प्रसंग को कौन सी कथा कहेंगे ? जल्प या वितण्डा नही कह सकते क्यों कि उन के लक्षण इस में नही है। अतः इसे वाद ही कहना होगा। वाद में झूठे दूषण नहीं बताये जाते (अतः यह प्रसंग वाद नही है) यह कथन भी उचित नही है। (वस्तुतः) उचित हेतु का यदि प्रयोग किया गया है तो उस में उचित दूषण नही बताया जा सकता (यदि उचित हेतु मे भी कोई दूषण बताया जाये तो वह झूठा दूषण ही होगा)। जो उचित हेतु व्याप्ति से युक्त है तथा पक्ष का धर्म है उस मे वास्तविक दूषण नही हो सकता। अन्यथा (यदि उचित हेतु में भी दूषण वास्तविक होने लगें तो) एक भी हेतु उचित नही होगा तथा किसी का भी पक्ष सिद्ध नहीं हो सकेगा। उचित दूषण तभी होते हैं जब उचित हेतु हों; यदि उचित हेतु ही नही है तो उचित दूषण भी नही होंगे, इस प्रकार सर्वत्र गडबडी हो जायगी। अतः एक ही विषय में जो हेतु और दूषण प्रस्तुत किये जाते हैं उन में से एक अवश्य ही झूठा होता है (यदि हेतु उचित हो तो दूषण झूठा होगा, तथा दूषण सही हो तो हेतु अयोग्य होगा)। अतः वाद में भी साधन तथा दूषण के आभास का प्रयोग एवं बतलाना तथा प्रतिपक्ष की स्थापना का अभाव हो सकता है। अतः जल्प और वितण्डा के लक्षण अतिव्याप्त हैं (उन की कुछ बातें वाद में भी पाई जाती हैं)। यही बात अनुमान-प्रयोग के रूप में बतलाते

त्यतिव्यापकं जल्पवितण्डयोर्लक्षणम्। प्रयोगश्च वादः छलादिप्रयोगवान् निग्रहस्थानवत्त्वात् परिसमाप्तिमद्विचारत्वात् पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहत्वात् जल्पवदिति। तदेतत् निरूपणमयुक्तं परस्य ॥

[११८. जल्पवितण्डयोः तत्त्वाध्यवसायसंरक्षकत्वाभावः]

यच्चोक्तं—तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थे जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् इति तदसंगतम्। तयोस्तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणसामर्थ्यायोगात्। तथाहि। जल्पवितण्डे न तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणसमर्थे असत्साधनदूषणवत्त्वात् निखिलबाधकनिराकरणासमर्थत्वाच्च अबलाकलहवत्। न चासत्साधनदूषणत्वमसिद्धं छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः स एव प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा इत्यभिधानात्।

हैं – वाद में छल इत्यादि का प्रयोग होता है क्यों कि वह भी जल्प के समान ही निग्रहस्थानों से युक्त है, विचारविमर्श की समाप्ति तक चलता है तथा पक्ष और प्रतिपक्ष को स्वीकार कर किया जाता है। अतः प्रतिपक्षी (नैयायिकों) का यह (वाद, जल्प और वितण्डा के वर्णन का) कथन योग्य नहीं है।

जल्प और वितण्डा तत्त्व के रक्षक नहीं हैं

(न्यायदर्शन का) यह कथन भी उचित नहीं है कि जल्प और वितण्डा तत्त्व के निश्चय के रक्षण के लिए होते हैं, उसी प्रकार जैसे बीज से निकले हुए छोटे अंकुर की रक्षा के लिए काँटोभरी टहनियों का बाडा लगाया जाता है। जल्प और वितण्डा में तत्त्व के निश्चय की रक्षा का सामर्थ्य नहीं हो सकता। जल्प और वितण्डा में साधन और दूषण असत् होते हैं तथा उन में बाधक आक्षेपों को पूरी तरह दूर करने का सामर्थ्य भी नहीं होता अतः स्त्रियों के कलह के समान जल्प और वितण्डा भी तत्त्व के निश्चय की रक्षा में समर्थ नहीं हो सकते। जल्प और वितण्डा में साधन और दूषण असत् होते हैं यह हमारा कथन असिद्ध नहीं है क्यों कि न्यायदर्शन में ही कहा है कि जिस में छल, जाति तथा निग्रहस्थानों द्वारा साधन और दूषण उपस्थित किये जाते हैं वह जल्प कहलाता है तथा उसी में यदि प्रतिपक्ष की स्थापना न की जाये तो उसे वितण्डा कहते हैं। हमारे उपर्युक्त कथन का

तथा द्वितीयोऽपि हेतुः नासिद्धः। जल्पवितण्डे न निखिलबाधकनिराकरणसमर्थे असत्साधनदूषणोपेतत्वात् अबलाकलहवत्। छलादयो वा न तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणसमर्थाः असत्साधनदूषणत्वात् शापादिवत्। छलादीनि असत्साधनदूषणानि अन्यतरपक्षनिर्णयाकारकत्वात् आभासत्वाच्च शापादिवत्। छलादयस्तदाभासा इति निरूपितत्वात् नासिद्धो हेतुः॥

[११९. वादस्यैव तत्त्वाध्यवसायसंरक्षकत्वम्]

किं च। जल्पवितण्डाभ्यां वदनात् वादी तत्त्वाध्यवसायरहित एव परनिर्मुखीकरणे प्रवृत्तत्वात् तत्त्वोपप्लववादिवत्। तस्मात् वाद एव तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणसमर्थः प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भत्वात् व्यतिरेके

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

दूसरा हेतु (बाधक आक्षेपों को दूर न कर सकना) भी असिद्ध नही है। जल्प और वितण्डा में सभी बाधक आक्षेपों को दूर करने का सामर्थ्य नही होता क्यों कि स्त्रियों के कलह के समान ही उन के साधन और दूषण असत् होते हैं। *छल आदि (जिन का प्रयोग जल्प और वितण्डा में होता है)* असत् साधन व असत् दूषण हैं अतः शाप आदि के समान वे (छल आदि) भी तत्त्व के निश्चय के रक्षण में समर्थ नही हो सकते। छल इत्यादि किसी एक पक्ष का निर्णय नही कर सकते, वे शाप आदि के समान आभास हैं अतः उन्हें असत् साधन और असत् दूषण कहा जाता है। छल इत्यादि आभास हैं ऐसा न्याय दर्शन में भी कहा है अतः हमारा; यह कथन असिद्ध नही है।

वाद ही तत्त्व के निश्चय का संरक्षक होता है

जल्प और वितण्डा का प्रयोग करनेवाला वादी तत्त्व के निश्चय से रहित होता है क्यों कि तत्त्वोपप्लव वादी के समान वह केवल प्रतिपक्षी को चुप करने के लिए ही बोलता है (अपनी कोई बात सिद्ध करना उस का उद्देश नही होता)। अतः वाद ही तत्त्व के निश्चय के संरक्षण में समर्थ होता है क्यों कि वह प्रमाण और तर्क द्वारा साधन-दूषणों का उपयोग करता है जिस के प्रतिकूल कलह होता है (झगडे में प्रमाण या तर्क का उपयोग नही होता अतः वह तत्त्व के निश्चय के संरक्षण में समर्थ नही है)। वाद का उपयोग कर बोलनेवाला ही तत्त्व का निश्चय कर सकता है क्यों कि वह दूसरे
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

कलहवत्। वादेन वक्त्रैव तत्त्वाध्यवसायी परप्रतिबोधनाय प्रवृत्तत्वात्, अभिमततत्त्वज्ञानिवत्॥

[१२०. जल्पवितण्डयोः विजिगीषुविषयत्वम्]

यदपि व्यरीरचद् यौगः–जल्पवितण्डे विजिगीषुविषये तत्त्वज्ञान-संरक्षणार्थत्वात् चतुरङ्गत्वात् ख्यातिपूजालाभकामैः प्रवृत्तत्वात् समत्सरैः कृतत्वात् प्रतिवादिस्खलितमात्रपर्यवसानत्वात् छलादिमत्वाच्च लोक-प्रसिद्धविचारवत् व्यतिरेके वादवदिति तत् स्वमनोरथमात्रम्। तत्त्वज्ञान-संरक्षणादिहेतूनां वादेऽपि सद्भावेन व्यभिचारात्। तथा हि। वादः तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थः स्वसिद्धान्ताविरुद्धार्थविषयत्वात् स्वाभिप्रेतार्थ-व्यवस्थापनफलत्वात् विचारत्वात् पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहत्वात् निग्रहस्थान-वत्त्वात् परिसमाप्तिमद्विचारत्वात् जल्पवत्। तथा चतुरङ्गो वादः लाभ-

---

(प्रतिपक्षी) को समझाने में प्रवृत्त हुआ है, जैसे कोई भी मान्य तत्त्वज्ञानी होता है।

क्या जल्प और वितण्डा विजय के लिए ही होते हैं?

नैयायिकों ने जो यह कहा है कि जल्प और वितण्डा विजय की इच्छा से किये जाते हैं क्यों कि वे तत्त्वज्ञान के संरक्षण के लिए होते हैं, उन के चार अंग होते हैं, कीर्ति, सम्मान आदि लाभ की इच्छा रखनेवाले ही उन में प्रवृत्त होते हैं, मत्सरी वादी उन में भाग लेते हैं, प्रतिवादी की गलती होते ही वे समाप्त होते हैं तथा वे छल आदि से युक्त होते हैं, इन सब बातों में वे जल्प और वितण्डा लोगों में सुप्रसिद्ध विचारविमर्श के समान हैं, वाद में ये सब बातें नही पाई जातीं–यह नैयायिकों का कथन उन की कल्पना–मात्र है (वस्तुतः उचित नही है)। ऐसा कहने का कारण यह है कि तत्त्वज्ञान का संरक्षण करना आदि ये सब हेतु वाद में भी विद्यमान हैं अतः उक्त हेतु व्यभिचारी है (वे जल्पवितण्डा इस पक्ष में तथा वाद इस विपक्ष में दोनों में पाये जाते हैं)। इसी को स्पष्ट करते हैं–वाद तत्त्व के निश्चय के संरक्षण के लिए होता है क्यों कि अपने सिद्धान्त से अविरोधी अर्थ उस का विषय होता है, अपने लिए इष्ट अर्थ की स्थापना करना यह उस का फल

पूजाख्यातिकामैः प्रवृत्तो वादः समत्सरैः क्रियते वादः प्रतिवादिस्खलित-मात्रपर्यवसानो वादः छलादिमान् वादः विचारत्वात् पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहाभिमतत्वात् निग्रहस्थानवत्त्वात् परिसमाप्तिमत्कथात्वात् सिद्धान्ताविरुद्धार्थविषयत्वात् स्वाभिप्रेतार्थव्यवस्थापनफलत्वात् जल्पवदिति पञ्चसाध्येषु प्रत्येकं षट् हेतवो द्रष्टव्याः ॥

[१२१. उक्तहेतूनां निर्दोषता]

सर्वत्र विप्रतिपत्तिनिराकरणेन स्वपक्षसौस्थ्यकरणमेव स्वाभिप्रेतार्थः तद्व्यवस्थापनफलं वादे जल्पेऽपि समानम्। अन्यहेतवः अङ्गीकृताः परैः वादे जल्पेऽपि। ततश्च उक्तहेतूनां पक्षे सद्भावात् न ते स्वरूपासिद्धाः न व्यधिकरणासिद्धाश्च, पक्षस्य प्रमाणसिद्धत्वात् नाश्रया-

होता है, वह विचारविमर्श होता है, पक्ष और प्रतिपक्ष स्विकार कर के किया जाता है, निग्रहस्थानों से युक्त होता है, तथा विचारविमर्श की समाप्ति तक किया जाता है, इन सब बातों में वह जल्प के समान ही है। वाद चार अंगों से संपन्न होता है, लाभ, कीर्ति, सत्कार आदि की इच्छा रखनेवाले वाद में प्रवृत्त होते हैं, मत्सरी वादी–प्रतिवादी वाद करते हैं, प्रतिवादी की गलती होते ही वाद समाप्त किया जाता है, वाद छल आदि से युक्त होता है ये (उपर्युक्त कथन में) पांच साध्य हैं, इन में से प्रत्येक के समर्थन के लिए छह हेतु दिये जाते हैं वे इस प्रकार हैं–वाद विचारविमर्श है, वह पक्ष और प्रतिपक्ष स्वीकार कर के किया जाता है, वह निग्रहस्थानों से युक्त होता है, विचारविमर्श की समाप्ति तक किया जाता है, सिद्धान्त के अविरोधी अर्थ उस के विषय होते हैं, तथा अपने इष्ट अर्थ की स्थापना यह उस का फल है, इन सब बातों में वह जल्प के समान है (अतः जल्प और वितण्डा विजय के लिए हैं एवं वाद विजय के लिए नही है यह भेद उचित नही है)।

पूर्वोक्त हेतुओं की निर्दोषता

सभी प्रसंगों में विरोधी आक्षेपों को दूर कर के अपने पक्ष को उचित सिद्ध करना यही वादी को अभीष्ट बात होती है उस की व्यवस्था करना यह फल वाद और जल्प दोनों में समान है। शेष हेतु वाद और जल्प दोनों में हैं यह प्रतिपक्षियों ने (नैयायिकों ने) भी स्वीकार किया है। यह पूर्वोक्त हेतु

सिद्धाः। पक्षे सर्वत्र प्रवर्तमानत्वात् न भागासिद्धाः। पक्षे निश्चितत्वात् नाज्ञातासिद्धाः न संदिग्धासिद्धाश्च। विपरीते निश्चिताविनाभावाभावात् न विरुद्धाः। विपक्षे वृत्तिविरहितत्वात् नानैकान्तिकाः। सपक्षे सत्त्वात् नानध्यवसिताः। पक्षे साध्याभावावेदकप्रमाणाभावात् न कालात्यया-पदिष्टाः। स्वपक्षे सत्त्रिरूपत्वात् परपक्षे असत्त्रिरूपत्वात् न प्रकरण-समाः। यथोक्तसाध्यसाधनानां जल्पे सद्भावात् न दृष्टान्तोऽपि साध्य-साधनोभयविकलो नाश्रयहीनश्च। ततो निर्दुष्टेभ्यो हेतुभ्यः तत्त्वज्ञान-संरक्षणादीनां वादे सद्भावसिद्धौ तदुक्तसाधनानां व्यभिचारः सिद्धः। लोकप्रसिद्धविचारे तत्त्वज्ञानसंरक्षणादितदुक्तहेतूनामभावात् साधनशून्यं

पक्ष (वाद) में विद्यमान है अतः वे स्वरूपासिद्ध नही हैं तथा व्यधिकरणासिद्ध भी नही हैं। यहां पक्ष प्रमाणों से ज्ञात है अतः ये हेतु आश्रयासिद्ध नही हैं। पक्ष में सर्वत्र विद्यमान हैं अतः वे भागासिद्ध नही हैं। पक्ष में उन का होना निश्चित है अतः वे अज्ञातासिद्ध नही हैं तथा संदिग्धासिद्ध भी नही हैं। विपरीत पक्ष में उन का अविनाभाव संबंध नही है यह निश्चित है अतः वे हेतु विरुद्ध नही हैं। विपक्ष में उन का अस्तित्व नही है अतः वे अनैकान्तिक नही हैं। सपक्ष में उन का अस्तित्व है अतः वे अनध्यवसित नही हैं। पक्ष मे साध्य का अभाव बतलानेवाला कोई प्रमाण नही है अतः ये हेतु कालात्ययापदिष्ट नही हैं। स्वपक्ष में इन के तीन रूप हैं (वे पक्ष में हैं, सपक्ष हैं तथा विपक्ष में नही है) तथा विरुद्ध पक्ष में इन के तीन रूप नही हैं अतः वे प्रकरणसम नही है। पूर्वोक्त साध्य और साधन दोनों ही जल्प में विद्यमान हैं अतः जल्प का दृष्टान्त भी साध्यविकल, साधनविकल या उभयविकल नही है तथा आश्रयहीन भी नही है। इस प्रकार निर्दोष हेतुओं से वाद में तत्त्वज्ञान का संरक्षण करना आदि साध्यों का अस्तित्व सिद्ध होता है इसलिए उन के (नैयायिकों के) द्वारा प्रस्तुत साधन (हेतु) व्यभिचारी है (विपक्ष में भी पाये जाते हैं)। लोगों में प्रसिद्ध विचारविमर्श में तत्त्वज्ञान का संरक्षण करना आदि उक्त हेतु नही होते अतः उन का दृष्टान्त भी साधनविकल है। उन के द्वारा कहे गये हेतु वाद में भी पाये जाते हैं अतः उन का व्यतिरेक दृष्टान्त भी साधन–अव्यावृत्त है। अतः जल्प

च अविरुद्धम् । वादे चतुरङ्गसाधनानां सद्भावात् साधनाभ्यावृत्तौ व्यतिरेकस्याभावोऽपि । ततः कथं जल्पवितण्डयोर्विजिगीषुविषयत्वं व्यव-स्थाप्यम् ॥

[१२२. वादजल्पयोः अभेदः]

किं च जल्पवितण्डे न विद्वद्गोष्ठीयोग्ये असत्साधनदूषणोपेतत्वात् कलहवत् । छलादयो वा न विद्वद्गोष्ठीयोग्याः असत्साधनदूषणत्वात् शापादिवत् । एतेन यदपि प्रत्यूचिरे यौगाः–वादो न विजिगीषुविषयः तत्त्वज्ञानसंरक्षणरहितत्वात् चतुरङ्गरहितत्वात् लाभपूजाख्यातिकामैः अप्रवृत्तविषयत्वात् समत्सरैरकृतत्वात् प्रतिवादिस्खलितमात्रापर्यवसान-त्वात् छलादिरहितत्वात् श्रीहर्षकथावत्, तथा वादः तत्त्वाध्यवसायसंर-क्षणरहितादिमान् चतुरङ्गरहितादित्वात् श्रीहर्षकथावत् इति पूर्वपूर्व-

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

और वितण्डा विजय के इच्छुकों द्वारा किये जाते हैं (तथा वाद विजय के इच्छुकों द्वारा नही किया जाता – वीतरागों द्वारा किया जाता है) ऐसा निरूपण आपने किस प्रकार किया है (अर्थात ऐसा भेद करना प्रामाणिक नही है)।

वाद और जल्प में भेद नही है

(नैयायिकों द्वारा वर्णित) जल्प और वितण्डा विद्वानों की चर्चा में प्रयुक्त होने योग्य नही हैं क्यों कि कलह के समान इन जल्प-वितण्डाओं में भी अनुचित साधन और दूषण प्रयुक्त होते हैं । छल आदि भी विद्वानों की चर्चा में प्रयुक्त होने योग्य नही हैं क्यों कि शाप आदि के समान ये छल आदि भी अनुचित साधन या दूषण हैं। अतः नैयायिकों ने जो यह उत्तर दिया था कि वाद विजय की इच्छासे नही किया जाता, क्यों कि वह तत्त्वज्ञान का संरक्षण नहीं करता, चार अंगों से संपन्न नही होता, लाभ, सत्कार या कीर्ति की इच्छा रखनेवालों द्वारा नही किया जाता, मत्सरी वादियों द्वारा नही किया जाता, प्रतिवादी की गलती होते ही समाप्त नही किया जाता, छल आदि से युक्त नहीं होता जैसे श्रीहर्ष की कथा (वाद); तथा वाद तत्त्वज्ञान के संरक्षण से रहित होता है क्यों कि वह चार अंगों से रहित होता है जैसे श्रीहर्ष की कथा (वाद) इस प्रकार जहां पहला कथन साध्य हो वहां वाद के कथन हेतु
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

असाध्यत्वे उत्तरोत्तरैकैकमसाध्यत्वे इतरे पञ्च हेतुत्वेन द्रष्टव्या इति-तन्निरस्तम्। उक्तसकलहेतुमालाया असिद्धत्वात्। कथमिति चेत् प्रागुक्तप्रकारेण वादे तत्त्वज्ञानसंरक्षणादीनां सद्भावसमर्थनात्। यच्चान्यत् प्रत्यवातिष्ठिपत् तत् सकलहेतुसमर्थनार्थं वादः तत्त्वज्ञानसंरक्षणरहितादिमान् अविजिगीषुविषयत्वात् तद्वदिति तदप्यसिद्धम्। तथा हि-वादो विजिगीषुविषयः सिद्धान्ताविरुद्धार्थविषयत्वात् स्वाभिप्रेतार्थव्यवस्थापनफलत्वात् विचारत्वात् पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहत्वात् निग्रहस्थानवत्त्वात् परिसमाप्तिमत्कथात्वात् जल्पवदिति। यत्किंचिद् वादे निषिध्यते जल्पे समर्थ्यते परैः तत्सर्वमेतैर्हेतुभिःवादे समर्थनीयं जल्पे निषेधनीयम्। तथा जल्पो वीतरागविषयः सिद्धान्ताविरुद्धार्थविषयत्वात् स्वाभिप्रेतार्थव्यवस्थापनफलत्वात् विचारत्वात् पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहत्वात् निग्रहस्थान-

---

के रूप में समझने चाहियें—यह (सब कथन हमारे उपर्युक्त प्रमाणों से) खण्डित हुआ क्यों कि उन की पूर्वोक्त हेतुओं की पूरी मालिका ही असिद्ध है। वह कैसे असिद्ध है इस प्रश्न का उत्तर है कि (हमारे द्वारा) पहले बताये गये प्रकार से वाद में तत्त्वज्ञान का संरक्षण करना आदि सब बातों का अस्तित्व पाया जाता है इस का समर्थन होता है। नैयायिकों ने जो यह और कहा था कि वाद में तत्वज्ञान का संरक्षण करना आदि बातें नही होतीं क्यों कि वह विजय की इच्छा से नही किया जाता—यह भी असिद्ध है। जैसे कि—वाद विजय की इच्छा से किया जाता है क्यों कि वह सिद्धान्त से अविरोधी विषय के बारे में होता है, अपना इष्ट तत्त्व सिद्ध करना उस का फल होता है, वह विचारविमर्श के रूप में होता है, पक्ष और प्रतिपक्ष स्वीकार कर के किया जाता है, निग्रहस्थानों से युक्त होता है, कथा की समाप्ति तक किया जाता है—इन सब बातों में वह जल्प के समान है। इस प्रकार प्रतिपक्षी (नैयायिक) वाद में जिन बातों का निषेध करते हैं (अभाव बतलाते हैं) तथा जल्प में उन बातों का समर्थन करते हैं उन सबका उपर्युक्त हेतुओं द्वारा वाद में समर्थन तथा जल्प में निषेध करना चाहिये। जैसे कि—जल्प वीतरागों द्वारा किया जाता है क्यों कि वह सिद्धान्त से अविरोधी विषय के बारे में होता है, अपने इष्ट तत्त्व को सिद्ध करना यह उस का फल होता

त्वात् परिसमाप्तिमत्कथात्वात् वादवदिति। एवं वादजल्पयोः सदृक्-साधनदूषणत्वात् अविशेषेण वीतरागविजिगीषुविषयत्वाच्च संभाषणं वादः संजल्पः विचारः कथा उपन्यास इत्यनर्थान्तरम्। तथा हि गृहीत विपक्षं प्रति युक्त्या संभाष्यत इति संभाषणं, विप्रतिपन्नं प्रति युक्त्या स्वाभिप्रेतार्थवदनं वादः, तथा जल्पनं जल्पः, तेषां धात्वर्थप्रत्ययार्थयोः भेदाभावादभेद एव। तथा विचारणं विचारः, कथनं कथा, उपन्यसनम् उपन्यास इति च। इत्यनुमानप्रपञ्चः॥

[१२३. आगमः]

आप्तवचनादिजनितपदार्थज्ञानम् आगमः। यो यत्राभिज्ञत्वे सत्य वञ्चकः स तत्राप्तः। तद्वचनमपि ज्ञानहेतुत्वादागम एव। ततो जातं तत्त्वयाथात्म्यज्ञानं भावश्रुतम्। तत्त्वयाथात्म्यप्रतिपादकं वचनं द्रव्यश्रुतम्।

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

है, वह विचारविमर्श के रूप में किया जाता है, पक्ष और प्रतिपक्ष स्वीकार कर के किया जाता है, निग्रहस्थानों से युक्त होता है तथा कथा की समाप्ति तक किया जाता है–इन सब बातों में वह वाद के समान है। इस प्रकार वाद और जल्प दोनों में साधन और दुषण समान हैं, दोनों समान रूप से वीतराग-विषय तथा विजिगीषुविषय हैं (विजय की इच्छासे या उस के विना किये जाते हैं), अतः वाद, संभाषण, संजल्प, विचार, कथा, उपन्यास ये सब एकार्थक शब्द हैं। जिससे विरुद्ध पक्ष लिया है उस से युक्तिपूर्वक बोलना यही संभाषण है, विरुद्ध पक्ष के वादी को युक्तिपूर्वक अपनी इष्ट बात बतलाना यही वाद है, जल्पन (बोलना) यही जल्प है, इन सब शब्दों में धातु का अर्थ तथा प्रत्यय का अर्थ इन दोनों में कोई भेद नही है अतः उन शब्दों के अर्थ में भी कोई भेद नही है। इसी प्रकार विचारण, विचार, कथन, कथा, उपन्यसन, उपन्यास ये भी एकार्थक शब्द हैं। इस प्रकार अनुमान का विस्तृत कथन पूर्ण हुआ।

आगम

आप्त के वचन आदि से उत्पन्न हुए पदार्थों के ज्ञान को आगम कहते हैं। जो जिस विषय को जानता हो तथा अवञ्चक हो (–धोखा न देता हो–सत्य बोलता हो) वह उस विषय के लिए आप्त होता है। आप्त के
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

तच्चाङ्गाङ्गबाह्यभेदेन द्विधा। तत्राङ्गं द्वादशविधम्। आचाराङ्गं सूत्रकृताङ्गं स्थानाङ्गं समवायाङ्गं व्याख्याप्रज्ञप्त्यङ्गं ज्ञातृकथाङ्गम् उपासकाध्ययनाङ्गम् अन्तकृद्दशाङ्गम् अनुत्तरोपपादकदशाङ्गं प्रश्नव्याकरणाङ्गं विपाकसूत्राङ्गं दृष्टिवादाङ्गमिति द्वादशाङ्गानि। तत्र दृष्टिवादाङ्गे परिकर्मसूत्रप्रथमानुयोग-पूर्वचूलिका इति पञ्चाधिकाराः। तत्र पूर्वाधिकारे उत्पादपूर्व-अग्रायणीय-वीर्यानुप्रवाद - अस्तिनास्तिप्रवाद - ज्ञानप्रवाद- सत्यप्रवाद-आत्मप्रवाद-कर्मप्रवाद - प्रत्याख्यान -विद्यानुवाद-कल्याण-प्राणावाय-क्रियाविशाल-लोकबिन्दुसार-पूर्वाश्चेति चतुर्दश पूर्वाधिकाराः। अङ्गबाह्ये सामायिक-चतुर्विंशतिस्तव - वन्दना -प्रतिक्रमण-वैनयिक-कृतिकर्म-दशवैकालिक-उत्तराध्ययन-कल्प-व्यवहार-कल्पाकल्प-महाकल्प-पुण्डरीक-महापुण्डरीक-अशीतिका-प्रकीर्णकानीति चतुर्दशाधिकाराः॥

[१२४. आगमाभासः]

अनाप्तवचनादिजनितमिथ्याज्ञानमागमाभासः। अज्ञानदुष्टाभिप्रायवाननाप्तः। तद्वचनमप्यागमाभास एव। सर्वं दुःखं सर्वं क्षणिकं सर्वं

वाक्यों को भी आगम ही कहते हैं क्यों कि वे वाक्य आगमज्ञान के कारण हैं (वाक्य शब्दों से बने हुए अतएव जड हैं, वे प्रमाण नहीं हो सकते, किन्तु आगम-ज्ञान के कारण होने से उन्हें उपचार से आगम-प्रमाण कहते हैं) उन से उत्पन्न तत्त्वों का वास्तविक ज्ञान भाव-श्रुत कहलाता है। तत्त्वों के वास्तविक स्वरूप को बतलानेवाले वाक्य द्रव्य-श्रुत कहलाते हैं। द्रव्यश्रुत के दो प्रकार हैं – अंग तथा अंगबाह्य। अंगों के बारह प्रकार हैं – आचारांग से दृष्टिवाद अंग तक वे बारह अंग हैं (नाम मूल में गिनाये हैं)। दृष्टिवाद अंग में पांच अधिकार (विभाग) हैं – परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्व तथा चूलिका। इन में से पूर्व-अधिकार के चौदह भाग हैं – उत्पाद पूर्व से लोकबिन्दुसार तक (जो मूल में गिनाये हैं) चौदह पूर्व हैं। अंगबाह्य के चौदह अधिकार हैं – सामायिक से प्रकीर्णक तक (नाम मूल में गिनाये हैं)।

आगमाभास

अनाप्त के वाक्य आदि से उत्पन्न मिथ्या ज्ञान को आगमाभास कहते हैं। जो अज्ञान तथा दूषित अभिप्राय से युक्त हो वह अनाप्त होता है। उस

निरात्मकं सर्वं शून्यमित्यादि। प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गुणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥ इत्यादि। अलाबूनि मज्जन्ति, ग्रावाणः प्लवन्ते, अन्धो मणिमविन्दत्, तमनङ्गुलि-रावयत्, उत्ताना वै देवगवा वहन्ति इत्यादि। इति परोक्षप्रपञ्चः। इति भावप्रमाणनिरूपणम्॥

[१२५. करणप्रमाणम्–द्रव्यप्रमाणम्]

करणप्रमाणं द्रव्यक्षेत्रकालभेदेन त्रिविधम्। तत्र द्रव्यप्रमाणमिन्द्रि-यार्थतत्संबन्धहेतुदृष्टान्ताश्रितशब्दार्थसंकेतादयः मानोन्मानावमान प्रतिमानतत्प्रतिमानगणनामानानि। तत्र मानं षोडशिका-अर्धमान-मानसिद्धप्रस्थादि। उन्मानं त्राक्षुछिन्नवर्तिकातुलादि। अवमानं चतुर-ङ्गुलचुलुकपाणिपुटप्रभृति। प्रतिमानं गुञ्जाकपर्दिकाकहिलादि। तत्-

के वाक्यों को भी आगमाभास ही कहते हैं। (जगत में) सब दुःख है, सब क्षणिक है, सब निरात्मक है, सब शून्य है आदि वाक्य आगमाभास हैं। प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार, अहंकार से सोलह (तत्वों) का समूह तथा उन सोलह में से पांच (तन्मात्रों) से पांच भूत (व्यक्त होते) हैं आदि वाक्य आगमाभास हैं। तुंबी डूबती है, पत्थर तैरते हैं, अंधेने रत्न को बींधा, उस में बिना अंगुली के मनुष्य ने धागा पिरोया, देवों की गायें उलटी बहती हैं आदि वाक्य आगमाभास हैं। इस प्रकार परोक्ष प्रमाणों का और उसके साथ भाव प्रमाण का वर्णन पूर्ण हुआ।

करणप्रमाण–द्रव्यप्रमाण

करण प्रमाण के तीन प्रकार हैं – द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण तथा काल प्रमाण। इन्द्रिय और पदार्थ तथा उन के सम्बन्ध के हेतु और दृष्टान्तोंपर आधारित शब्द और अर्थ के संकेत आदि को द्रव्यप्रमाण कहते हैं। उस के भेद इस प्रकार हैं – मान, उन्मान, अवमान, प्रतिमान, तत्प्रतिमान तथा गणनामान। षोडशिका, अर्धमान, मान, सिद्धप्रस्थ आदि मान (धान्यमाप) के प्रकार हैं। त्राक्षु, छिन्न, वर्तिका, तुला आदि उन्मान (तौल) के प्रकार हैं। चार अंगुल, चुलुक, अंजलि आदि अवमान के प्रकार हैं। गुंजा, कौडि,

प्रतिमानं क्रय्यपदार्थस्य मूल्यं काकिणीविंशत्रिंशार्धपादपादपणनिष्कादयः। गणनामानं संख्यातासंख्यातानन्तभेदात् त्रिधा। तत्र संख्यातं जघन्य-मध्यमोत्कृष्टभेदात् त्रिविधम्। असंख्यातमनन्तं च परिमितयुक्तद्विकवार-भेदात् त्रिविधम्। तत्प्रत्येकं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदात् त्रिविधमिति गणनामानम् एकविंशतिभेदभिन्नम्। लिखितसाक्षिभुक्तिस्थापित-पाषाणादयश्च ॥

[१२६. क्षेत्रप्रमाणम्]

क्षेत्रप्रमाणम् – उत्तममध्यमजघन्यभोगभूकर्मभूजशिरोरुहलक्षतिलयवाङ्गुलान्यष्टाष्टगुणितानि। द्वादशाङ्गुलैः वितस्तिः। वितस्तिभ्यां

कड्डिला आदि प्रतिमान (बाट) के प्रकार हैं। खरीदनेयोग्य पदार्थ के मूल्य को तत्प्रतिमान कहते हैं, जैसे काकिणी, विंश, त्रिंश, अर्धपाद, पाद, पण, निष्क आदि। गणनामान के तीन प्रकार हैं – संख्यात, असंख्यात और अनन्त। संख्यात के तीन प्रकार हैं – जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। असंख्यात और अनन्त के तीन-तीन प्रकार हैं – परिमित, युक्त तथा द्विरुक्त (परिमित असंख्यात, युक्त असंख्यात, असंख्यात असंख्यात, परिमित अनन्त, युक्त अनंत, अनंत अनंत)। इन में से प्रत्येक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन-तीन भेद होते हैं। इन सब को मिलाकर गणनामान के इक्कीस प्रकार हैं। इस के अतिरिक्त लिखित (दस्तावेज), साक्षी, अधिकारी आदि द्वारा स्थापित (सीमा बतानेवाले) पत्थर आदि का भी द्रव्यप्रमाण में समावेश होता है।

क्षेत्रप्रमाण

क्षेत्रप्रमाण की गणना इस प्रकार है – उत्तम भोगभूमि, मध्यम भोगभूमि, जघन्य भोगभूमि, तथा कर्मभूमि के मनुष्यों के सिर के केश की चौडाई आठ आठ गुनी है। कर्मभूमि के मनुष्य के सिर के केश की चौडाई के आठगुना १ लक्ष होता है। आठ लक्षों का १ तिल होता है।

हस्तः। चतुर्हस्तैः दण्डः। द्विसहस्रदण्डैः क्रोशः। चतुःक्रोशैः योजनम् इत्यादि॥

[१२७. कालप्रमाणम्]

कालप्रमाणम्-असंख्यातसमयः आवलिः। संख्यातावलिसमूह उच्छ्वासः। सप्तोच्छ्वासैः स्तोकः। सप्तस्तोकैः लवः। सार्धाष्टत्रिंशल्लवैः घटिका। घटिकाभ्यां मुहूर्तः। त्रिंशन्मुहूर्तैः दिनम्। पञ्चदशदिनैः पक्षः। पक्षाभ्यां मासः। मासाभ्याम् ऋतुः। त्रि-ऋतुभिः अयनम्। अयनाभ्यां संवत्सरः। पञ्चसंवत्सरैः युगम्। द्वादशयुगैः मण्डलम्। चत्वारिंशत्-सहस्राधिकलक्षमण्डलैः पूर्वाङ्गम्। पूर्वाङ्गवर्गः पूर्वम् इत्यादि॥

[१२८. उपमानप्रमाणम्]

उपमानप्रमाणं क्षेत्रप्रमाणं कालप्रमाणं च भवति। तद् यथा–पल्योपमसागरोपमसूच्यङ्गुलप्रतराङ्गुलघनाङ्गुलजगच्छ्रेणीजगत्प्रतरलोका

---

८ तिल = १ यव; ८ यव = १ अंगुल; १२ अंगुल = १ वितस्ति; २ वितस्ति = १ हस्त; ४ हस्त = १ दंड; २००० दण्ड = १ क्रोश; तथा ४ क्रोश = १ योजन होता है।

काल प्रमाण

काल प्रमाण की गणना इस प्रकार है–असंख्यात समय = १ आवलि; संख्यात आवलि = १ उच्छ्वास; ७ उच्छ्वास = १ स्तोक; ७ स्तोक = १ लव; ३८½ लव = १ घटिका; २ घटिका = १ मुहूर्त; ३० मुहूर्त = १ दिन; १५ दिन = १ पक्ष; २ पक्ष = १ मास; २ मास = १ ऋतु; ३ ऋतु = १ अयन; २ अयन = १ संवत्सर; ५ संवत्सर = १ युग; १२ युग = १ मंडल; १ लक्ष ४० हजार मंडल = पूर्वांग; पूर्वांग × पूर्वांग = १ पूर्व॥

उपमान प्रमाण

उपमान प्रमाण दो तरह का है–क्षेत्र प्रमाण तथा काल प्रमाण। इस के आठ प्रकार हैं–पल्योपम, सागरोपम, सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगच्छ्रेणी, जगत्प्रतर तथा लोक। इस में पल्य के तीन भेद हैं–व्यवहारपल्य,

इत्यष्टप्रकाराः। तत्र पल्यं व्यवहार-उद्धार-अद्धारभेदेन त्रिविधम्। यथाक्रमं संख्याद्वीपसमुद्रकर्मस्थितिव्यवस्थापकम्। प्रमाणयोजनोत्सेध-विस्तारवृत्तगर्ते उत्तमभोगभूमिजाजकेशान् समखण्डान् छित्वा परिपूर्य वर्षशतान्ते एकैकापनयने यावत्कालेन परिसमाप्तिः तावत्कालसमय-संख्या व्यवहारपल्यम्। व्यवहारपल्यकेशानसंख्यातखण्डान् विधाय तथापनयने तत्काले समयसंख्या उद्धारपल्यम्। उद्धारपल्यकेशान-संख्यातखण्डान् विधाय तथापनयने तत्कालसमयसंख्या अद्धारपल्यम्। पल्यानां संदृष्टिः। प। एतेषां पल्यानां दशकोटिकोटिसंख्या सागरः। तस्य संदृष्टिः। स। पल्यछेदनामात्रपल्यानामन्योन्याभ्यासे सूच्यंगुलम्। तस्य संदृष्टिः। २। सूच्यंगुलस्य वर्गः प्रतरांगुलम्। तस्य संदृष्टिः। ४।

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

उद्धारपल्य तथा अद्धारपल्य। इन तीनों का उपयोग क्रमशः संख्या, द्वीप-समुद्र तथा कर्मस्थिति के विषय में होता है। एक प्रमाण योजन ऊंचे और उतने ही व्यास के गोल गढे में उत्तम भोगभूमि में उत्पन्न हुए बकरे के समस्त केशों के बहुत बारीक टुकडे कर के समतल भर दिये जायें तथा एक एकसौ वर्ष बाद एक एक टुकडा निकाला जाय तो जितने समय बाद वह केश समाप्त होंगे उतने समय को एक व्यवहारपल्य कहते हैं। व्यवहारपल्य के केशों के असंख्यात टुकडे कर के उसी प्रकार (सौ सौ वर्ष बाद एक एक टुकडा निकाल कर) जितने समय में वे केश समाप्त होंगे उतने समय को एक उद्धारपल्य कहते हैं। इस उद्धारपल्य के केशों के असंख्यात टुकडे कर उसी प्रकार (सौ सौ वर्ष बाद एक एक टुकडा) निकालने पर जितने समय में वे समाप्त होंगे उतने समय को एक अद्धार पल्य कहते हैं। (ग्रन्थों में उदाहरणों आदि में) पल्य के लिए। प। यह संदृष्टि (प्रतीक) उपयोग में आती है। दश कोटि × कोटि पल्यों का एक सागर होता है। सागर का प्रतीक। स। यह होता है। एक पल्य के जितने अर्ध छेद होते हैं उतने पल्यों का परस्पर गुणाकार करने से एक सूच्यंगुल होता है उस का प्रतीक
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

सूच्यंगुलस्य घनो घनांगुलम्। तस्य संदृष्टिः । ६ । पल्यच्छेदनानामसंख्यातैकभागमात्रे घनांगुलानामन्योन्याभ्यासे जगच्छ्रेणिः। तस्य संदृष्टिः । – ।

जगच्छ्रेणेः वर्गो जगत्प्रतरः । तस्य संदृष्टिः । = । जगच्छ्रेणेः घनो लोकः । तस्य संदृष्टिः ।≡। जगच्छ्रेणेः सप्तमभागो रज्जुः । तस्य संदृष्टिः । ७ ॥

[१२९. प्रमाणान्तराभावः]

अथ उपमानार्थापत्त्यभावप्रमाणानि निरूपणीयानीति चेत् तत्सर्वं निरूपितमेव । तत् कथम् । गोसदृशोऽयं गवयः, अनेन सदृशी मदीया गौः, इत्युपमानस्य सादृश्यप्रत्यभिज्ञानेन, नदी पूराद्यर्थापत्तेः अनुमानत्वेन अभावप्रमितेः प्रतियोगिकग्राहकप्रमाणत्वेन निरूपणात् ॥

।२। है । सूच्यंगुल का वर्ग प्रतरांगुल कहलाता है उसका प्रतीक । ४ । है । सूच्यंगुल का घन घनांगुल कहलाता है उस का प्रतीक ।६। है । पल्य के छेदों के असंख्यातवें एक भाग में घनांगुलों का परस्पर गुणाकार करने से जगत् श्रेणी प्राप्त होती है । इस का प्रतीक । – । है । जगत्श्रेणी का वर्ग जगत्प्रतर होता है उस का प्रतीक । = । होता है । जगत् श्रेणी का घन लोक होता है । उस का प्रतीक । ≡ । है । जगत् श्रेणी के सातवें भाग को रज्जु कहते हैं । उस का प्रतीक । ७ । होता है ।

दूसरे प्रमाणों का समावेश

यहां उपमान, अर्थापत्ति तथा अभाव इन प्रमाणों का भी वर्णन करना चाहिये ऐसा कोई कहें तो उत्तर यह है कि इन का वर्णन पहले हो चुका है । यह गवय गाय जैसा है, मेरी गाय इस जैसी है आदि उपमान प्रमाण का सादृश्य प्रत्यभिज्ञान में अन्तर्भाव किया है । नदी को बाढ आई है अतः ऊपर वर्षा हुई होगी आदि अर्थापत्ति प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव किया है । अभाव की प्रमिति तथा प्रतियोगी वस्तु के ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष में कोई भेद नही है । इस तरह उपमान, अर्थापत्ति एवं अभाव ये पृथक् प्रमाण नही हैं ।

[१२०. उपसंहारः]

भावसेनत्रिविद्यार्यो वादिपर्वतवज्रभृत् ।
सिद्धान्तसारशास्त्रेऽस्मिन् प्रमाणं प्रत्यपीपदत् ॥ १०२ ॥

इति परवादिगिरिसुरेश्वरश्रीमद्भावसेनत्रैविद्यदेवविरचिते सिद्धान्तसारे मोक्षशास्त्रे प्रमाणनिरूपणं नाम प्रथमः परिच्छेदः ॥

वादी रूपी पर्वतों के लिए इन्द्र के समान भावसेन त्रिविद्यार्य ने इस सिद्धान्तसार शास्त्र में प्रमाण का प्रतिपादन किया।

इस प्रकार प्रतिपक्ष के वादीरूपी पर्वतों के लिए इन्द्र सदृश श्रीभावसेन त्रैविद्यदेव द्वारा रचित सिद्धान्तसार मोक्षशास्त्र का प्रमाणनिरूपण नामक पहला परिच्छेद समाप्त हुआ ॥

तुलना और समीक्षा

प्रमाण का लक्षण (परि० २)

तर्कशास्त्र के प्रारम्भिक युग में प्रमाण शब्द का उपयोग किसी लक्षण के बिना ही किया गया है। न्यायसूत्र[१] तथा जैन आगमों के[२] उल्लेख इसी प्रकार के हैं। वात्स्यायन[३], उमास्वाति[४] तथा पूज्यपाद[५]ने प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति बतलाई है। समन्तभद्र ने स्व तथा पर को जाननेवाली बुद्धि को प्रमाण कहा है[६] तथा एकसाथ सब को जाननेवाला सर्वज्ञ का ज्ञान और क्रमशः होनेवाला स्याद्वाद-संस्कृत ज्ञान ये उस के प्रकार बतलाये हैं[७]। सिद्धसेन ने प्रमाण के लक्षण में स्व–पर के ज्ञान में बाधा न होना इस विशेषता का समावेश किया है[८]। बौद्ध आचार्यों के प्रमाण-लक्षण में अविसंवादि ज्ञान[९] इस शब्दप्रयोग द्वारा इसी बाधा न होने की विशेषता को स्वीकार किया गया है। मीमांसक आचार्यों ने उस ज्ञान को प्रमाण माना है जो किसी नये (अथवा अज्ञात = अगृहीत =अपूर्व) पदार्थ को जानता हो[१०]। अकलंक विद्यानन्द तथा माणिक्यनन्दि ने उपर्युक्त लक्षणों का समन्वय करते हुए स्व

१. न्यायसूत्र १-१-१ तथा १-१-३।

२. अनुयोगद्वारसूत्र (सू. १३१) इत्यादि।

३. न्यायभाष्य १-१-३।प्रमीयते अनेनेति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः।

४. तत्त्वार्थभाष्य १-१२।प्रमीयन्ते अर्थाः तैः इति प्रमाणानि।

५. सर्वार्थसिद्धि १-१२।प्रमिणोति प्रमीयते अनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्।

६. स्वयम्भूस्तोत्र ६३।स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्।

७. आप्तमीमांसा १०१।तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्॥

८. न्यायावतार १। प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।

९. प्रमाणवार्तिक २–१। प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्।

१०. मीमांसाश्लोक वार्तिक में कुमारिलः तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्। अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसंमतम्॥

तथा अपूर्व अर्थ का निश्चय करनेवाले ज्ञान को प्रमाण कहा है[१]। हेमचन्द्र ने अपूर्वार्थग्रहण विशेषण को अनावश्यक समझ कर वस्तु का यथार्थ निर्णय यही प्रमाण का लक्षण माना है[२]। आचार्य भावसेन का पदार्थयाथात्म्य-निश्चय यह लक्षण भी इसीका अनुसरण करता है। नैयायिक विद्वानों ने प्रमाणशब्द की व्युत्पत्ति को ही लक्षण का रूप देने की पद्धति अपनाई है[३]। इस में प्रमा का साधन प्रमाण होता है अतः ज्ञान के साथ साथ इन्द्रिय और पदार्थों के सम्बन्ध को भी प्रमाण कहा जाता है। प्रमाण शब्द के रूढ अर्थ में विश्वसनीयता का अंश महत्त्वपूर्ण है – विश्वासयोग्य ज्ञान को ही प्रमाणभूत समझा जाता है। बौद्ध और जैन आचार्यों के लक्षण इस अर्थ के अनुकूल हैं। इस पक्ष में प्रमाणशब्द का भावरूप अर्थ प्रमुख है। नैयायिक विद्वान प्रमाण शब्द के साधन रूप अर्थ पर जोर देते हैं।

प्रमाणों के प्रकार (परि० २)

भावसेन ने प्रमाण के दो प्रकार बतलाये हैं – भावप्रमाण तथा करण प्रमाण; एवं करण प्रमाण के तीन भेदों का (द्रव्य, क्षेत्र, काल) ग्रन्थ के अन्तिम भाग (परि. १२९–२७) में वर्णन किया है। इन चार भेदों का एकत्रित उल्लेख अनुयोगद्वारसूत्र में मिलता है[४] किन्तु वहां भाव तथा करण यह वर्गीकरण नही पाया जाता।

---

१. अष्टसहस्री पृ. १७५। प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमनधिगतार्थाधिगम-लक्षणत्वात्। परीक्षामुख १-१ स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।

२. प्रमाणमीमांसा १-१-२। सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्।

३. न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका पृ. २१। प्रमासाधनं हि प्रमाणम्।
न्यायसार पृ. २। सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्।
तर्कभाषा पृ. १। प्रमाकरणं प्रमाणम्।

न्यायमंजरी पृ. १२। अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्।

इस परम्परा में उल्लेखनीय अपवाद उदयन का है, उन्होंने यथार्थ अनुभव को प्रमाण कहा है (यथार्थानुभवो मानम्–न्यायकुसुमांजलि प्र.४ श्लो.१)।

४. सूत्र १३१ से किं तं पमाणे। पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा दव्वपमाणे खेत्तपमाणे कालपमाणे भावपमाणे।

प्रत्यक्ष से भिन्न सभी प्रमाणों का परोक्ष इस संज्ञा में अन्तर्भाव करना यह जैन प्रमाणशास्त्र की विशेषता है। प्रायः सभी जैन आचार्यों ने इस का समर्थन किया है[1]। अन्य दर्शनों में यह संज्ञा नही पाई जाती।

अन्य दर्शनों में प्रमाणों के प्रकारों की जो मान्यताएं हैं उन का संग्रह निम्नलिखित श्लोक में मिलता है[2]—

चार्वाकोऽध्यक्षमेकं सुगतकणभुजौ सानुमानं सशाब्दं
तद्द्वैतं पारमर्षः सहितमुपमया तत्त्रयं चाक्षपादः।
अर्थापत्त्या प्रभाकृद् वदति स निखिलं मन्यते भट्ट एतत्
साभावं द्वे प्रमाणे जिनपतिसमये स्पष्टतोऽस्पष्टतश्च ॥

अर्थात – चार्वाक एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण मानते हैं, बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण मानते हैं, सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण मानते हैं, नैयायिक इन तीनों में उपमान प्रमाण और जोडते हैं, प्राभाकर मीमांसक इन चारों के साथ अर्थापत्ति पांचवां प्रमाण मानते हैं और भाट्ट मीमांसक इन पांच में अभाव यह छठा प्रमाण जोडते हैं, जैन मत में सब प्रमाण स्पष्ट (प्रत्यक्ष) और अस्पष्ट (परोक्ष) इन दो भेदों में समाविष्ट हो जाते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण (परि० ३)

प्राचीन आगमों के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण वह है जिस में केवल (इन्द्रियों की तथा मन की सहायता के विना ही) आत्मा को पदार्थों का ज्ञान होता है[3]। इस लिए अवधि, मनःपर्यय तथा केवल इन तीन ज्ञानों को ही वे प्रत्यक्ष कहते हैं तथा इन्द्रियों और मन से होनेवाले मति और श्रुत इन

---

१. नन्दीसूत्र (सू. २)। तं समासओ दुविहं पण्णत्तं तं जहा पच्चक्खं च परोक्खं च ॥ तत्त्वार्थसूत्र अ. १ सू. ११, १२। आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्। इत्यादि।

२. यह श्लोक न्यायावतार टिप्पन (पृ. ९–१०) में उद्धृत है।

३. प्रवचनसार गा. ५८। जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्ख त्ति भणिदमट्ठेसु। जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥

दोनों ज्ञानों को परोक्ष कहते हैं[१]। सिद्धसेन ने जो परोक्ष नहीं है उसे प्रत्यक्ष कहा है– प्रत्यक्ष की विधिरूप व्याख्या नहीं की है[२]। आगमों की दूसरी परम्परा के अनुसार जब इन्द्रियों और मन से प्राप्त ज्ञान को व्यवहारतः प्रत्यक्ष माना गया तब प्रत्यक्ष के लक्षण में परिवर्तन जरूरी हुआ। अकलंकदेव ने विशद अथवा स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा तथा उसे साकार यह विशेषण भी दिया[३]। विशद का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया कि जिस ज्ञान के लिए कोई दूसरा ज्ञान आधारभूत नहीं होता वह विशद अर्थात प्रत्यक्ष है[४]–स्मृति आदि ज्ञानों के लिए पूर्ववर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान आधारभूत होता है इस लिए वे परोक्ष हैं। भावसेन का प्रत्यक्ष लक्षण भी इस व्याख्या के अनुरूप है।

न्यायसूत्र में प्रत्यक्ष उसे कहा गया है जो इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न, शब्द योजना से पूर्ववर्ती, यथार्थ तथा निश्चयात्मक ज्ञान होता है[५]। किन्तु इस में योगिप्रत्यक्ष तथा मानसप्रत्यक्ष का समावेश नहीं हो सकता। इस लिए वात्स्यायन ने इस सूत्र के इन्द्रिय शब्द में मन का अन्तर्भाव करने का प्रयत्न किया है[६]। भासर्वज्ञ ने सम्यक् अपरोक्ष अनुभव के साधन को प्रत्यक्ष कहा है[७]।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र अ. १ सू. ९-१२। मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्। तत्प्रमाणे। आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्।

२. न्यायावतार श्लो. ४। अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम्। प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया॥

३. न्यायविनिश्चय श्लो. ३। प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा।

४. परीक्षामुख २–४। प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्।

५. न्यायसूत्र १-१-४। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।

६. न्यायभाष्य १-१-४। आत्मादिषु सुखादिषु च प्रत्यक्षलक्षणं वक्तव्यम् ...मनसश्चेन्द्रियभावात् न वाच्यं लक्षणान्तरमिति।

७. न्यायसार पृ. ७ सम्यगपरोक्षानुभवसाधनं प्रत्यक्षम्।

बौद्ध आचार्यों ने कल्पनापोढता से पूर्ववर्ती निर्विकल्प ज्ञान को ही प्रत्यक्ष माना है[1]। जैन आचार्यों का इस विषय में यह मत है कि वस्तु के निर्विकल्प ग्रहण को दर्शन कहा जाय–ज्ञान नहीं। वह ज्ञान ही नहीं होता अतः प्रमाण भी नहीं हो सकता। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के खण्डन के लिए भावसेन ने विश्वतत्त्वप्रकाश में एक परिच्छेद (८९) लिखा है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रकार (परि० ३–९)

आगमों की प्राचीन परम्परा में अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान तथा केवलज्ञान इन तीन प्रकारों में प्रत्यक्षप्रमाण का विभाजन मिलता है। इस का अनुसरण कुन्दकुन्द और उमास्वाति ने किया है[2]। ये तीनों ज्ञान अतीन्द्रिय हैं। इस परम्परा के अनुसार इन्द्रिय और मन द्वारा होनेवाले समस्त ज्ञान परोक्ष हैं। आगमों में मिलनेवाली दूसरी परम्परा के अनुसार उक्त तीन ज्ञानों को नोइन्द्रियप्रत्यक्ष कहा है[3] तथा स्पर्शनादि पांच इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान को इन्द्रियप्रत्यक्ष कहा है। उक्त विरोध को दूर करने के लिए जिनभद्रगणी ने इन्द्रियप्रत्यक्ष को संव्यवहारप्रत्यक्ष कहते हुए अवधि आदि ज्ञानों को मुख्य प्रत्यक्ष कहा है[4]। अकलंकदेव ने प्रत्यक्ष के तीन प्रकार किये हैं – इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनिन्द्रियप्रत्यक्ष (स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क और अनुमान ये ज्ञान जब तक शब्दाश्रित नही होते तब तक मन द्वारा प्रत्यक्ष जाने जाते हैं) तथा अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (अवधि आदि तीन ज्ञान)[5]। इन में प्रथम दो प्रकारों को

---

१. प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम् (न्यायबिन्दु ४)

२. ये मूल उल्लेख ऊपर उद्धृत कर चुके हैं।

३. अनुयोगद्वारसूत्र (सू. १४४)। पच्चक्खे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा इंदियपच्चक्खे अ णोइंदियपच्चक्खे अ। से किं तं इंदियपच्चक्खे। इंदियपच्चक्खं पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा–सोइंदियपच्चक्खे चक्खुरिंदियपच्चक्खे घाणिंदियपच्चक्खे जिब्भिंदियपच्चक्खे फासिंदियपच्चक्खे। ...णोइंदियपच्चक्खे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा–ओहिणाणपच्चक्खे मणपज्जवणाणपच्चक्खे केवलणाणपच्चक्खे।

४. इंदियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं। विशेषावश्यक भाष्य गा. ९५

५. प्रमाणसंग्रह श्लो. २। प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं तत्त्वज्ञानं विशदम्। इन्द्रियप्रत्यक्षमनिन्द्रियप्रत्यक्षमतीन्द्रियप्रत्यक्षं त्रिधा।

उन्हों ने भी संव्यवहारप्रत्यक्ष कहा है[१]। बाद के आचार्यों ने मुख्य तथा संव्यवहारप्रत्यक्ष का यह वर्गीकरण मान्य किया है किन्तु स्मृति आदि को उन्हों ने अनिन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं माना है[२]। भावसेन ने प्रत्यक्ष प्रमाण के जो चार प्रकार बतलाये हैं उन में योगिप्रत्यक्ष में अवधि, मनःपर्यय तथा केवल-ज्ञान का समावेश है अर्थात प्राचीन आगमिक परम्परा का प्रत्यक्ष और अकलंकदेव आदि की परम्परा का मुख्य प्रत्यक्ष ही यहां योगिप्रत्यक्ष कहा गया है[३]। इन्द्रियप्रत्यक्ष भी इन पूर्वाचार्यों द्वारा वर्णित संव्यवहारप्रत्यक्ष का एक भाग है। मानसप्रत्यक्ष का संव्यवहारप्रत्यक्ष में अन्तर्भाव किया जा सकता है – उमास्वाति ने मतिज्ञान को इन्द्रिय-अनिन्द्रियनिमित्तक माना है, जिनभद्र ने संव्यवहारप्रत्यक्ष को इन्द्रियमनोभव कहा है तथा अकलंकदेव ने तो अनिन्द्रियप्रत्यक्ष का स्पष्ट ही वर्णन किया है। किन्तु भावसेन ने मानस-प्रत्यक्ष की जो विषयमर्यादा बतलाई है (आत्मा के सुख, दुःख, हर्ष, इच्छा आदि का ज्ञान ही मानसप्रत्यक्ष का विषय है) वह अकलंकवर्णित अनि-न्द्रियप्रत्यक्ष के अनुकूल नहीं है। भावसेन के स्वसंवेदनप्रत्यक्ष का भी स्वतन्त्र प्रकार के रूप में वर्णन अन्य जैन ग्रन्थों में नहीं पाया जाता, फिर भी ज्ञान अपने आप को जानता है इस विषय में जैन आचार्य एकमत हैं[४]।

---

१. लघीयस्त्रय श्लो. ४। तत्र सांव्यवहारिकमिन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्। मुख्यमतीन्द्रियज्ञानम्।

२. लघीयस्त्रय श्लो. १०-११ पर प्रभाचन्द्र की व्याख्या इस दृष्टि से देखनेयोग्य है।

३. यहां द्रष्टव्य है कि भावसेन ने योगिप्रत्यक्ष में केवलज्ञान, मनःपर्यय-ज्ञान तथा अवधिज्ञान को समाविष्ट किया है, इन में पहले दो ज्ञान तो सिर्फ योगियों को (महाव्रतधारी मुनियों को) होते हैं किन्तु अवधिज्ञान गृहस्थों को भी होता है। जिनेश्वरसूरि ने प्रमालक्ष्म (श्लो. ३) में इसी प्रकार योगिविज्ञान शब्द का प्रयोग किया है, यथा– प्रत्यक्षं योगिविज्ञानमवधिर्मनसो गमः। केवलं च त्रिधा प्रोक्तं योगिनां त्रिविधत्वतः॥

४. भावसेन ने विश्वतत्त्वप्रकाश (परि. १८) में इस विषय की चर्चा विस्तार से की है।

प्रमाण के लक्षण में भी उन्हों ने स्वपराभासि, स्वपरव्यवसायात्मक जैसे शब्दों द्वारा स्व का ज्ञान समाविष्ट किया है।

भावसेन द्वारा वर्णित इन चार प्रकारों के नाम तो बौद्ध ग्रन्थों के अनुकूल हैं[1] किन्तु बौद्ध आचार्यों द्वारा उन का जो स्वरूप बताया गया है वह भावसेनवर्णित स्वरूप से भिन्न है। बौद्धों ने मानसप्रत्यक्ष को वह ज्ञान माना है जो इन्द्रियों द्वारा पदार्थ का ज्ञान होने के बाद के क्षण में उसी पदार्थ के उत्तरक्षणवर्ती सन्तान के बारे में मन को होता है–अर्थात वे बाह्य पदार्थों को ही मानस प्रत्यक्ष का विषय मानते हैं। योगिप्रत्यक्ष को बौद्ध आचार्य निर्विकल्प ही मानते हैं। स्वसंवेदनप्रत्यक्ष का स्वरूप भी बौद्ध मत के अनुसार निर्विकल्प है।

न्यायसूत्र में प्रत्यक्ष का जो लक्षण है वह केवल इन्द्रियप्रत्यक्ष का ही है[2]। किन्तु उद्योतकर तथा वाचस्पति ने मानसप्रत्यक्ष तथा योगिप्रत्यक्ष का अस्तित्व स्वीकार किया है[3]। यह भी भावसेनवर्णित प्रत्यक्षप्रकारों से भिन्न हैं क्यों कि ये आचार्य बाह्य पदार्थों को भी मानसप्रत्यक्ष का विषय मानते हैं। ज्ञान का स्वसंवेदन न्यायदर्शन में मान्य नही है अतः इस प्रत्यक्ष प्रकार को वे नही मान सकते।

सिद्धसेन ने अनुमान के समान प्रत्यक्ष के भी स्वार्थ और परार्थ ये दो भेद किये हैं[4]। किन्तु अन्य आचार्यों ने इस वर्गीकरण की ओर ध्यान नही दिया।

---

१. न्यायबिन्दु पृ. १२–१४। कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्। तच्चतुर्विधम्। इन्द्रियज्ञानम्। स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम्। सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम्। भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति।

२. यह लक्षण ऊपर उद्धृत किया है।

३. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका पृ. १८३। इच्छादयः खलु धर्मिणो भवन्ति मानसप्रत्यक्षदृष्टाः। पृ. २०३। योगिप्रत्यक्षं स्वर्गादिविषयम्।

४. न्यायावतार श्लो. ११। प्रत्यक्षेणानुमानेन प्रसिद्धार्थप्रकाशनात्। परस्य तदुपायत्वात् परार्थत्वं द्वयोरपि॥

भावसेन ने प्रत्यक्ष के योगिप्रत्यक्ष और अयोगिप्रत्यक्ष ये दो प्रकार किये हैं और इन को पुनः सविकल्पक तथा निर्विकल्पक इन प्रकारों में विभाजित किया है[1]।

इन्द्रियप्रत्यक्ष (परि० ४)

इस परिच्छेद में इन्द्रियों के प्रकार, आकार तथा विषयों का जो वर्णन है वह मुख्यतः तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा के अनुसार है[2]।

इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व (परि० ५)

न्यायसूत्र के प्रत्यक्षलक्षण के अनुसार[3] इन्द्रियों का पदार्थ से संबंध (सन्निकर्ष) होने पर प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। तदनुसार न्यायदर्शन में सभी इन्द्रियों के प्राप्यकारी (प्राप्त पदार्थ का ज्ञान करानेवाले) माना गया है।

बौद्ध आचार्यों का मत है कि मन, कान तथा आंखें – ये तीन इन्द्रिय अप्राप्यकारी हैं[4]–पदार्थ से असंबद्ध रह कर ही ये पदार्थ का ज्ञान कराते हैं।

जैन आचार्यों ने कान को प्राप्यकारी तथा आंख को अप्राप्यकारी माना है[5]। भावसेन ने मन का समावेश प्राप्यकारी तथा अप्राप्यकारी दोनों

---

१. न्यायसार पृ. ७–१३। तद् द्विविधं योगिप्रत्यक्षमयोगिप्रत्यक्षं चेति। ... तच्च पुनर्द्विविधम्। सविकल्पकं निर्विकल्पकं च।

२. तत्त्वार्थसूत्र अ. २ सू. १५–२१। पञ्चेन्द्रियाणि। द्विविधानि। निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्। लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्। स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि। स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः तदर्थाः। श्रुतमनिन्द्रियस्य।

३. यह लक्षण ऊपर उद्धृत किया है।

४. अप्राप्तान्यक्षिमनःश्रोत्राणि। अभिधर्मकोश १।४३।

५. वस्तुतः कान तथा आंख दोनों समान रूप से प्राप्यकारी हैं–ध्वनि-तरंग प्राप्त होने पर कान से शब्द का ज्ञान होता है उसी प्रकार प्रकाशकिरण प्राप्त होने पर आंख से रंग का ज्ञान होता है। किन्तु रंग के ज्ञान में प्रकाश के महत्त्व की ओर जैन आचार्यों का ध्यान नहीं गया है। आंख के प्राप्यकारित्व की चर्चा भावसेन ने विश्वतत्त्वप्रकाश (परि. ६८) में की है।

से किया है – अपने आप के सुख, दुःख आदि के ज्ञान में मन प्राप्यकारी होता है किन्तु स्मृति आदि परोक्ष ज्ञानों में वह अप्राप्यकारी होता है। यह बात अन्यत्र हमारे अवलोकन में नही आई।

अवग्रह आदि ज्ञान (परि० ६)

यह वर्णन मुख्यतः तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा के अनुसार है[१]। किन्तु अभ्यस्त विषयों में अवग्रह तथा ईहा नही होते यह भावसेन का कथन अन्यत्र प्राप्त नही होता।

योगिप्रत्यक्ष (परि० ७)

सर्वज्ञ के ज्ञान में आत्मा और अन्तःकरण के संयोग की जो बात भावसेन ने कही है वह जैन परम्परा के अनुकूल नही प्रतीत होती[२]। संभवतः नैयायिक परम्परा के प्रभाव से ऐसी शब्दरचना हुई है। इन्द्रियप्रत्यक्ष के वर्णन में भी आचार्य ने इसी प्रकार ' आत्मा के अवधान तथा अव्यग्र मन के सहकार्य से युक्त निर्दोष इन्द्रिय से प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है ' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है।

अवधिज्ञान का विवरण तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा के अनुसार है[३]।

मनःपर्यायज्ञान (परि० ८)

मनःपर्याय का विवरण तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा के अनुसार है[४]। किन्तु यह ज्ञान मन द्वारा होता है यह कथन परम्परा के प्रतिकूल है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र अ. १ सू. १५। अवग्रहेहावायधारणाः।

२. अवधि, मनःपर्यय तथा केवल ज्ञान में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा नही होती– तत्त्वार्थराजवार्तिक अ. १ सू. १२। इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षम् अतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम्।

३. तत्त्वार्थसूत्र अ. १ सू. २१–२२। भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्। क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्।

४. तत्त्वार्थसूत्र अ. १ सू. २३ ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः।

स्वसंवेदनप्रत्यक्ष (परि० ९)

इस का विवेचन ऊपर प्रत्यक्ष के प्रकारों में हो चुका है।

प्रत्यक्ष के आभास (परि० १०)

इस में अनध्यवसाय को आचार्य ने प्रत्यक्षाभास में नही गिनाया है तथा उसे ज्ञान का अभाव माना है। अनध्यवसाय का प्रमाणाभास में अन्तर्भाव वादिदेवसूरि ने किया है[1], उसी का यह खण्डन प्रतीत होता है। भासर्वज्ञ ने अनध्यवसाय का अन्तर्भाव संशय में किया है[2]।

परोक्ष प्रमाण के प्रकार (परि० ११)

ऊपर कहा जा चुका है कि तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार मति और श्रुत (अर्थात इन्द्रिय और मन से प्राप्त समस्त ज्ञान) ये ज्ञान परोक्ष हैं। इन में श्रुतज्ञान को परोक्ष मानने के विषय में सभी जैन आचार्य एकमत हैं। कुछ लेखकों ने श्रुत की जगह प्रवचन अथवा आगम जैसे शब्दों का प्रयोग किया है इतनाही फर्क है। मतिज्ञान (इन्द्रिय और मन से प्राप्त ज्ञान) को जिनभद्र आदि आचार्यों ने व्यवहारतः प्रत्यक्ष माना है यह ऊपर बता चुके हैं। मतिज्ञान के ही नामान्तर के रूप में स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इन चार शब्दों का उल्लेख तत्त्वार्थसूत्र में है[3]। अकलंकदेव ने इन शब्दों को क्रमशः स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क तथा अनुमान इन चार भेदों का वाचक माना है[4]। इस प्रकार परोक्षप्रमाण के पांच भेद होते हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान,

---

१. प्रमाणनयतत्त्वालोक ६–२५। यथा सन्निकर्षाद्यस्वसंविदितपरानवभासकज्ञानदर्शनविपर्ययसंशयानध्यवसायाः।

२. न्यायसार पृ. ४। अनवधारणत्वाविशेषात् ऊहानध्यवसाययोर्न संशयादर्थान्तरभावः।

३. तत्त्वार्थसूत्र १-१३ मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्

४. वे इन ज्ञानों को शब्दयोजना के पहले प्रत्यक्ष मानते हैं तथा शब्दयोजना के बाद परोक्ष मानते हैं यह ऊपर बता चुके हैं।

तर्क, अनुमान तथा आगम[1]। भावसेन ने इन भेदों में एक और प्रकार – ऊहापोह जोडा है। तर्क के अर्थ में ऊह शब्द का प्रयोग पहले होता था[2]। भावसेन ने तर्क और ऊहापोह में भिन्नता बतलाई है जिस का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि जिस अविनाभावसंबन्ध का ज्ञान अनुमान में प्रयुक्त होता हो उसे तर्क कहना चाहिये तथा ऐसा जो ज्ञान अनुमान में प्रयुक्त न होता हो उसे ऊहापोह कहना चाहिये। यह भेद अन्यत्र देखने में नही आता।

यह भी देखनेयोग्य है कि सिद्धसेन तथा उन के टीकाकारों ने परोक्ष प्रमाण के दो ही प्रकारों का – अनुमान तथा आगम का वर्णन किया है[3]। इस मत का आधार नन्दीसूत्र में मिलता है जहां परोक्ष ज्ञान को आभिनिबोधिक तथा श्रुत इन दो भेदों में विभक्त किया है[4]।

स्मृति (परि० १२)

अन्य दर्शनों में स्मृति को प्रमाण में अन्तर्भूत नही किया जाता[5] क्यों कि स्मृति में किसी नये पदार्थ का ज्ञान नही होता – वह पुराने प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित होती है। किन्तु अकलंकदेव का कथन है कि स्मृति को प्रमाण मानना चाहिए क्यों कि प्रत्यक्ष पर आधारित होते हुए भी वह पदार्थ के स्वरूप से विसंवादी नही होती–और जो भी ज्ञान अविसंवादी हो वह प्रमाण होता है[6]। उत्तरवर्ती जैन आचार्यों ने इसी का अनुसरण किया है। भावसेन का स्मृति–वर्णन प्रायः परीक्षामुख के शब्दों पर आधारित है[7]।

---

१. परीक्षामुख ३-१,२। परोक्षमितरत्। प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम्।

२. परीक्षामुख ३–७। उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः।

३. न्यायावतारटीका पृ. ३३। (परोक्षम्) सामान्यलक्षणतद्भावादेकाकारमपि विप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं द्विधा भिद्यते तद् यथा अनुमानं शाब्दं चेति।

४. सूत्र २४। परोक्खनाणं दुविहं पण्णत्तं तं जहा आभिणिबोहियनाणपरोक्खं च सुयनाणपरोक्खं च।

५. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका पृ. २१। प्रमासाधनं हि प्रमाणम्। न च स्मृतिः प्रमा।

६. प्रमाणसंग्रह श्लो. १०। प्रमाणमर्थसंवादात् प्रत्यक्षान्वयिनी स्मृतिः।

७. परीक्षामुख ३–३। संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः।

प्रत्यभिज्ञान (परि० १३)

प्रत्यभिज्ञान शब्द का अर्थ है पहचानना। किन्तु इस प्रमाण में आचार्यों ने पहचानने के साथ साथ समानता, भिन्नता, निकटता, दूरता, छोटाई, बडाई, ऊंचाई जैसे तुलनात्मक ज्ञान के सभी प्रकारों का समावेश किया है[1]। इस तरह न्यायदर्शन के उपमान प्रमाण का (जिस में एक चीज की समानता से दूसरी चीज जानी जाती है[2]) यह विकसित रूप है।

बौद्ध आचार्यों ने इस प्रमाण को भ्रमपूर्ण माना है क्यों कि वे प्रत्येक पदार्थ को क्षणस्थायी मानते हैं और क्षणस्थायी पदार्थ की तुलना करना संभव नहीं होता। इस का खण्डन भावसेन ने विश्वतत्त्वप्रकाश (परि० ८७) में किया है। इस के तुलनात्मक टिप्पण वहां देखने चाहिएं।

अनुयोगद्वार सूत्र (सू. १४४) में औपम्य प्रमाण इस संज्ञा में प्रत्यभिज्ञान के प्रकारों का अन्तर्भाव किया है। वहां औपम्य के दो प्रकार बतलाये हैं– साधर्म्योपनीत तथा वैधर्म्योपनीत। इन दोनों के तीन–तीन प्रकार किये हैं– किंचित् साधर्म्योपनीत, प्रायःसाधर्म्योपनीत तथा सर्वसाधर्म्योपनीत, इसी प्रकार वैधर्म्य के भी किंचित्, प्रायः तथा सर्व ये प्रकार हैं।

ऊहापोह (परि० १४)

इस का विवेचन ऊपर परोक्ष के प्रकारों में हो चुका है।

तर्क (परि० १५)

भावसेन ने तर्क शब्द का उपयोग दो अर्थों में किया है। इस परिच्छेद में व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहा है। आगे परि. ४२ में प्रतिपक्ष में आत्माश्रय, इतरेतराश्रय आदि दोष बतलाना यह तर्क का स्वरूप बतलाया है।

---

१. परीक्षामुख ३–५, ६। दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम्। तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत् प्रतियोगीत्यादि। यथा स एवायं देवदत्तः गोसदृशो गवयः गोविलक्षणो महिषः इदमस्माद् दूरं वृक्षोऽयमित्यादि।

२. न्यायसूत्र १-१-६। प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्।

व्याप्ति के ज्ञान को तर्क अथवा ऊह यह संज्ञा अकलंकदेव ने दी थी[1] तथा माणिक्यनन्दि ने उन का अनुसरण किया है[2] यह प्रमाण का प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से भिन्न है इस बात का विस्तृत समर्थन वादीभसिंह की स्याद्वादसिद्धि में (प्रकरण १२) पाया जाता है।

न्यायसूत्र में तर्क शब्द का प्रयोग इस से भिन्न अर्थ में हुआ है।[3] अनुमान के लिए उपयोगी विचारविमर्श को वहां तर्क कहा है। उन के कथनानुसार तर्क न प्रमाण है, न अप्रमाण, वह प्रमाण के लिए उपयोगी है[3]।

अनुमान के प्रकार (परि० १६, २६–२९)-

आचार्य ने यहां तीन प्रकारों में अनुमान का विभाजन किया है। स्वार्थ तथा परार्थ इन प्रकारों का वर्णन प्रशस्तपाद, सिद्धसेन आदि के अनुसार है[4]। केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी, तथा अन्वयव्यतिरेकी इन तीन प्रकारों का वर्णन उद्योतकर आदि के अनुसार है[5]। किन्तु दृष्ट, सामान्यतोदृष्ट तथा अदृष्ट ये जो प्रकार आचार्य ने बतलाये हैं वे अन्यत्र देखने में नही आये[6]।

न्यायसूत्र में अनुमान के तीन प्रकार बतलाये हैं[7]– पूर्ववत् (कारण से कार्य का अनुमान), शेषवत (कार्य से कारण का अनुमान) तथा सामान्यतोदृष्ट (कार्यकारणभाव से भिन्न सम्बन्धों पर आधारित अनुमान)। वाचस्पति ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में अनुमान के दो प्रकार बतलाये हैं – वीत (विधिपर) तथा अवीत (निषेधपर)[8]।

---

१. न्यायविनिश्चय ३२९। स तर्कपरिनिष्ठितः। अविनाभावसंबन्धः साकल्येनावधार्यते। २. उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः। परीक्षामुख ३–७।

३. न्यायसूत्र १-१-४०। अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः। न्यायभाष्य १-१-४० कथं पुनरयं तत्त्वज्ञानार्थो न तत्त्वज्ञानमेवेति। अनवधारणात् अनुजानात्ययमेकतरं धर्मं कारणोपपत्त्या न त्ववधारयति न व्यवस्यति न निश्चिनोति एवमेवेदमिति।

४. न्यायावतार श्लो. ११ (ऊपर उद्धृत किया है)।

५. न्यायवार्तिक पृ. ४६, ६. न्यायसार (पृ. १८) में हेतु के दो प्रकार दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट बतलाये हैं, अदृष्ट का उल्लेख वहां नही है। ७. न्यायसूत्र १-१-५ अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टं च। ८. पृष्ठ २०।

अनुयोगद्वारसूत्र (सू. १४४) में अनुमान के पूर्ववत्, शेषवत् तथा दृष्टसाधर्म्यवत् ये तीन प्रकार बतलाये हैं तथा शेषवत् के पांच प्रकार किये है – कार्य से, कारण से, गुण से, अवयव से, आश्रय से। वैशेषिक दर्शन में अनुमान के जो पांच प्रकार बतलाये हैं वे इन से मिलते जुलते हैं[1]।

अनुमान के अवयव (परि० १६-२१)

न्यायसूत्र में अनुमान के पांच अवयव बतलाये हैं–प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन[2]। वात्स्यायन ने इस प्रसंग में अनुमान के दस अवयवों की एक परम्परा का उल्लेख किया है जिस में पूर्वोक्त पांच अवयवों के साथ जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन तथा संशयविच्छेद ये अवयव अधिक जोडे जाते थे[3]। दशवैकालिक निर्युक्ति में भद्रबाहु ने भी दस अवयवों की गणना बतलाई है, वह इस प्रकार है–प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाविभक्ति, हेतु, हेतुविभक्ति, विपक्ष, विपक्षप्रतिषेध, दृष्टान्त, आशंका, आशंकाप्रतिषेध और निगमन[4]। प्रशस्तपाद ने अनुमान के पाचही अवयव बताये हैं किन्तु उन के नाम और क्रम न्यायसूत्र से भिन्न हैं, ये अवयव है –अपदेश (व्याप्ति का कथन), साधर्म्य निदर्शन (समानता बतानेवाला दृष्टान्त), वैधर्म्य निदर्शन (भिन्नता बतानेवाला दृष्टान्त), अनुसन्धान (पक्ष में हेतु का अस्तित्व जानना) तथा प्रत्याम्नाय (पक्ष में साध्य की सिद्धि)। प्रस्तुत प्रसंग में भावसेन ने न्यायसूत्र आदि में वर्णित प्रतिज्ञा के दो भाग किये हैं–पक्ष और साध्य। इन दोनों का वर्णन तो पहले के लेखकों

---

१. अस्येदं कारणं कार्यं संबन्धि एकार्थसमवायि विरोधि चेति लैङ्गिकम्।

२. न्यायसूत्र १-१-३२। प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः।

३. न्यायभाष्य १-१-३२। दशावयवानेके नैयायिकाः वाक्ये संचक्षते जिज्ञासा संशयः शक्यप्राप्तिः प्रयोजनं संशयव्युदास इति।

४. गाथा १४२ ते उ पइन्नविभत्ती हेउ विभत्ती विपक्ख पडिसेहो। दिट्ठंतो आसंका तप्पडिसेहो निगमणं च॥ यहां पहले दो अवयवों में विभक्ति शब्द स्पष्टीकरण के अर्थ में आया है।

ने किया है किन्तु अवयवों के रूप में पृथक् गणना नहीं की गई है[1]।

माणिक्यनन्दि के कथनानुसार वाद में जो अनुमान प्रयुक्त होते हैं उन में प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव होने चाहिएं। उदाहरण, उपनय तथा निगमन इन का प्रयोग तो केवल शिष्यों को समझाने के लिए किया जा सकता है, वाद में इन का उपयोग नही ऐसा उन का कथन है[2]। इस की चर्चा भावसेन ने नही की है। पत्र के अंगों की चर्चा में (परि. १००) इस का उल्लेख जरूर हुआ है। सिद्धसेन ने अनुमानवाक्य को पक्षादिवचनात्मक कहा है[3]। उन के टीकाकारों ने इस का अर्थ यह किया है कि अनुमान-वाक्य में एक (केवल हेतु), दो (पक्ष, हेतु), तीन (पक्ष, हेतु दृष्टान्त) पांच (उपर्युक्त) या दस अवयवों का आवश्यकतानुसार प्रयोग किया जा सकता है[4]। सिद्धर्षि ने दस अवयवों में पक्ष इत्यादि पांच अवयवों के साथ उन पांच अवयवों की निर्दोषता को शामिल किया है[5]। जिनेश्वर ने उन का समर्थन किया है[6]।

---

१. किंबहुना पक्ष और साध्य में विशिष्ट रूप में एकत्व भी बताया गया है—यथा—साध्याभ्युपगमः पक्षः (न्यायावतार श्लो. १४), साध्यं धर्मः क्वचित् तद्विशिष्टो वा धर्मी, पक्ष इति यावत् (परीक्षामुख ३-२०, २१)।

२. परीक्षामुख ३-३२, ४१। एतद् द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम्। बाल-व्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादे तदनुपयोगात्।

३. न्यायावतार श्लो. १३। परार्थमनुमानं तत् पक्षादिवचनात्मकम्।

४. प्रमालक्ष्म श्लो. ५६। क्वचिद् हेतुः क्वचिद् ज्ञातं क्वचित् पक्षोपि सम्मतः। पञ्चावयवयुक्तोऽपि दशधा वा क्वचिन्मतः॥

५. न्यायावतारटीका (श्लो. १३)। दशावयवं साधनं प्रतिपादनोपायः तद्यथा पक्षादयः पञ्च तच्छुद्धयश्च।

६. प्रमालक्ष्म (श्लो. ५६)। प्रत्यक्षादिनिराकृतपक्षदोषपरिहारः असिद्ध-विरुद्धानैकान्तिकदोषपरिहारो, वादे साध्यसाधनोभयविकलतादिपरिहारः दुष्टनी-ततापरिहारो दुर्निगमितपरिहारो वक्तव्य इति।

हेतु का स्वरूप (परि० १९ तथा २२–२५)

न्यायसूत्र के अनुसार हेतु वह होता है जो उदाहरण की समानता से या भिन्नता से साध्य को सिद्ध करे[१]। दिङ्नाग ने उदाहरण की समानता और भिन्नता को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा कि जो पक्ष में है, सपक्ष में है तथा विपक्ष में नही है वह हेतु होता है[२]। इस पर कुमारिल का कथन था कि हेतु का पक्ष में अस्तित्व सर्वदा होता ही है ऐसा नही है – बाढ से भारी वर्षा का जहां अनुमान होता है वहां बाढ यह हेतु वर्षा के स्थान से बहुत दूर होता है[३]। इसी बात को देखते हुए आचार्यों ने भी माना कि पक्ष – सपक्ष – विपक्ष की चर्चा न करते हुए हेतु उसे माना जाय जिस के बिना साध्य की उपपत्ति न लगती हो। यदि हेतु में अन्यथानुपपत्ति है तो अन्य गुण हों या न हों – इस से कोई फरक नही पडता। इस अन्यथानुपपत्ति लक्षण के प्रतिपादन का श्रेय आचार्य पात्रकेसरी को दिया जाता है। तथा सिद्धसेन, अकलंकदेव आदि ने इसी लक्षण को माना है[४]। किन्तु इस प्रसंग में भावसेन ने व्याप्तिमान् पक्षधर्म यह हेतु का लक्षण बतला कर पूर्वपरम्परा की उपेक्षा की है, यहां वे बौद्ध–परम्परा से प्रभावित प्रतीत होते हैं। साथ ही हेतु के छह गुण बतला कर उन्हों ने नैयायिक–

---

१. न्यायसूत्र १-१-३४, ३५। उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः। तथा वैधर्म्यात्।

२. तत्र यः सन् सजातीये द्वेधा चासंस्तदत्यये।
स हेतुः विपरीतोऽस्मादसिद्धोन्यस्त्वनिश्चितः॥
उद्धृत–न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका पृ. २८९

३. परि. २४ में उद्धृत श्लोक देखिए। हेमचन्द्र तथा देवसूरि ने इन्हें भट्ट (कुमारिल) के नाम से उद्धृत किया है किन्तु कुमारिल के उपलब्ध ग्रन्थों में ये नही मिलते।

४. न्यायावतार श्लो. २२। अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्। न्यायविनिश्चय श्लो. ३२३ अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥ (यह श्लोक पात्रकेसरी का है तथा अकलंकदेवने उद्धृत किया है)।

परम्परा का भी संग्रह किया है। नैयायिक परम्परा में हेतु के पांच गुण माने गये हैं – पक्षधर्मत्व, सपक्ष में सत्व, विपक्ष में असत्व, अबाधित विषय होना तथा प्रतिपक्ष सत न होना[1]। भावसेन ने इस के साथ असिद्धसाधकत्व यह गुण भी जोडा है। हेतु के छह गुणों की एक दूसरी परम्परा भी रही है। इस में पूर्वोक्त पांच गुणों के साथ ज्ञातत्व यह गुण जोड़ा गया है। इस का उल्लेख अर्चटकृत हेतुबिन्दुटीका में मिलता है[2]।

हेतु पक्ष का धर्म नही भी होता इस विषय में भावसेन ने जिस पूर्वपक्ष का खण्डन किया है वह वादीभसिंह की स्याद्वादसिद्धि में विस्तृत रूप से मिलता है[3]।

दृष्टान्त (परि० २०)

भावसेन के वर्णनानुसार दृष्टान्त वह होता है जो वादी और प्रतिवादी दोनों को मान्य हो। उन्हों ने इस के दो प्रकार बतलाये हैं – अन्वय तथा व्यतिरेक। न्यायसूत्र में कहा है कि दृष्टान्त लौकिक तथा परीक्षक दोनों को मान्य होना चाहिए[4]। वहां इस के प्रकारों को साधर्म्य तथा वैधर्म्य ये नाम दिये हैं। सिद्धसेन ने वादी-प्रतिवादी या लौकिक-परीक्षक का उल्लेख नही किया है – साध्य और साधन का निश्चित सम्बन्ध जिस में दिखाई दे उसे

---

१. न्यायसार पृ. २० । तत्र पञ्चरूपः अन्वयव्यतिरेकी । रूपाणि तु प्रदर्श्यन्ते । पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षाद् व्यावृत्तिः अबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चेति ।

२. अकलंकग्रन्थत्रय प्रस्तावना पृ. ६३ ।

३. प्र. ४ श्लो. ८२–८३ हेतुप्रयोगकाले तु तद्विशिष्टस्य धर्मिणः । किं च पक्षादिधर्मत्वेऽप्यन्तर्व्याप्तेरभावतः ॥ तत्पुत्रत्वादिहेतूनां गमकत्वं न दृश्यते । पक्षधर्मत्वहीनोऽपि गमकः कृत्तिकोदयः ॥

४. न्यायसूत्र १-१-२५ । लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ।

दृष्टान्त कहा है[1]। देवसूरि ने इसी बात को प्रकारान्तर से कहा है[2]।

अनुमान में अन्वय और व्यतिरेक (परि० २६–२८)

यहां हेतु के अनुसार अनुमान के तीन प्रकार बतलाये हैं – केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी। इन के प्रतिपादन का श्रेय उद्द्योतकर को दिया जाता है[3]। इन में अन्वयव्यतिरेकी अनुमान तो सर्वमान्य है। किन्तु केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी के बारे में मतभेद है। आचार्य ने यहां इस विषय की जो चर्चा की है वह प्रायः शब्दशः विश्वतत्त्वप्रकाश (परि. १६–१७) में भी प्राप्त होती है। जयन्त ने केवलान्वयी हेतु को प्रमाण नहीं माना है[4]। केवलव्यतिरेकी के बारे में केशवमिश्र का कहना है कि इस से कोई नई बात मालूम नहीं होती, यह तो किसी वस्तुसमूह का लक्षण बतलाने का एक प्रकार है[5]।

हेत्वाभास (परि० ३०–३९)

न्यायसूत्र में हेत्वाभास के पांच प्रकार बतलाये हैं – सव्यभिचार (जो समान तथा विरुद्ध दोनों पक्षों में मिलता हो), विरुद्ध (जो विरुद्ध पक्ष में ही हो), प्रकरणसम (जिस का प्रतिपक्ष समान रूप से संभव हो), साध्यसम (जिसे सिद्ध करना जरूरी हो) तथा कालातीत (जिस के

---

१. न्यायावतार श्लो. १८–१९। साध्यसाधनयोर्व्याप्तिर्यत्र निश्चीयतेतराम्। साधर्म्येण स दृष्टान्तः संबन्धस्मरणान्मतः॥ साध्ये निवर्तमाने तु साधनस्याप्यसंभवः। ख्याप्यते यत्र दृष्टान्ते वैधर्म्येणेति स स्मृतः॥

२. प्रमाणनयतत्त्वालोक ३–४३। प्रतिबन्धप्रतिपत्तेरास्पदं दृष्टान्तः।

३. न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका पृ. १७१.

४. न्यायमंजरी भा. २ पृ. १३८। केवलान्वयी हेतुर्नास्त्येव, सामान्यलक्षणं तु अनुमानलक्षणात् साध्यसाधनपदात् वा अवगन्तव्यम्, भाष्याक्षराणि तु कथमप्युपेक्षिष्यामहे।

५. तर्कभाषा पृ. ११ लक्षणमपि केवलव्यतिरेकी हेतुः—अत्र च व्यवहारः साध्यः।

उदाहरण का काल साध्य के काल से भिन्न हो)[1]। उत्तरकालीन नैयायिक आचार्यों ने साध्यसम के लिए असिद्ध इस संज्ञा का प्रयोग किया, कालातीत के लिए कालात्ययापदिष्ट शब्द का तथा सव्यभिचार के लिए अनैकान्तिक शब्द का प्रयोग किया। कालात्ययापदिष्ट के अर्थ में भी भेद हुआ – जिस का साध्य बाधित हो उसे यह नाम दिया गया। उद्योतकर तथा जयन्त ने इस पद्धति का वर्णन किया है[2]। भासर्वज्ञ ने इन पांच के साथ अनध्यवसित यह छठवां प्रकार जोडा। जो केवल पक्ष में हो (सपक्ष या विपक्ष में न हो) किन्तु साध्य की सिद्ध न कर सके वह अनध्यवसित हेत्वाभास होता है[3]। भावसेन ने इन छह प्रकारों के साथ अकिंचित्कर यह प्रकार जोडा है – जो सिद्ध साध्य के बारे में हो वह अकिंचित्कर हेत्वाभास होता है[4]। किन्तु प्रकरणसम हेत्वाभास के वर्णन में वे स्पष्ट करते हैं कि यह अनैकान्तिक से भिन्न नहीं है।

बौद्ध आचार्य हेत्वाभास के तीन ही प्रकार मानते हैं – असिद्ध, विरुद्ध तथा संदिग्ध (इसे अनैकान्तिक या अनिश्चित भी कहा है)[5]। सिद्धसेन, देवसूरि आदि ने इसी प्रकार वर्णन किया है[6]।

अकलंकदेव ने असिद्ध आदि प्रकारों को एक ही अकिंचित्कर हेत्वाभास के प्रकार माना है। जो भी हेतु अन्यथा उपपन्न हो सकता है (साध्य

---

१. न्यायसूत्र, १-२-४। सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः।

२. न्यायमंजरी भा. २ पृ. १५३–६८.

३. न्यायसार पृ. २५–३५.

४. माणिक्यनन्दि ने अकिंचित्कर में इस प्रकार के साथ कालात्ययापदिष्ट को भी अन्तर्भूत किया है (परीक्षामुख ६–३५)।

५. इस विषय में दिग्नाग का श्लोक ऊपर उद्धृत किया है।

६. न्यायावतार श्लो. २३। असिद्धस्त्वप्रतीतो यो योऽन्यथैवोपपद्यते।
विरुद्धो योऽन्यथाप्यत्र युक्तोऽनैकान्तिकः स तु॥
प्रमाणनयतत्त्वालोक ६–४७।

के बिना भी जिस की उपपत्ति लगती है अर्थात साध्य से जिस का अविनाभाव संबन्ध नही है) वह अकिंचित्कर हेत्वाभास है — असिद्ध आदि उसी के प्रकार हैं[1]। किन्तु माणिक्यनन्दि ने हेतु के लक्षण में परिवर्तन न करते हुए भी हेत्वाभास के चार प्रकार किये हैं। वे असिद्ध आदि तीन प्रकारों के साथ अकिंचित्कर यह चौथा प्रकार मानते हैं (जो सिद्ध या बाधित साध्य में प्रयुक्त हो उसे वे अकिंचित्कर कहते हैं)[2]।

भावसेन ने असिद्ध आदि हेत्वाभासों के कई उपभेदों का जो वर्णन किया है वह प्रायः शब्दशः भासर्वज्ञ के अनुसार है[3]। अन्य जैन आचार्यों ने इन उपभेदों के वर्णन में रुचि नही दिखाई है। भावसेन ने स्वयं भी विश्वतत्त्वप्रकाश (पृ. ४१) में असिद्ध के दो ही प्रकार बतलाये हैं — अविद्यमानसत्ताक और अविद्यमाननिश्चय। प्रभाचन्द्र ने विशेष्यासिद्ध आदि प्रकारों का अविद्यमानसत्ताक असिद्ध में समावेश किया है[4]।

दृष्टान्ताभास (परि० ४०–४२)

भावसेन ने अन्वयदृष्टान्त के छह तथा व्यतिरेकदृष्टान्त के छह आभास बताये हैं। इन का वर्णन भासर्वज्ञ के अनुसार है[5]। जयन्त ने अन्वय और व्यतिरेक दोनों दृष्टान्तों के पांच-पांच आभास बतलाये हैं — उन्होंने आश्रयविकल का वर्णन नही किया है[6] तथा अप्रदर्शितव्याप्ति के स्थान पर अनन्वय का वर्णन किया है। सिद्धर्षि ने इन आभासों की संख्या तो बारह ही मानी है किन्तु स्वरूप भिन्न प्रकार से बताया है — साध्यविकल, साधनविकल, व उभयविकल के साथ संदिग्धसाध्य, संदिग्धसाधन व संदिग्धोभय ये प्रकार

---

१. न्यायविनिश्चय श्लो. २६९। साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नं ततोऽपरे। विरुद्धासिद्धसंदिग्धा अकिंचित्करविस्तराः॥

२. परीक्षामुख ६–२१। हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिंचित्कराः।

३. न्यायसार पृ. २५–३५। ४. प्रमेयकमलमार्तण्ड ६-२२.

५. न्यायसार पृ. ३६-३८.

६. न्यायमञ्जरी भा. २ पृ. १४०। तत्र साध्यविकलः साधनविकल उभयविकल इति वस्तुदोषकृतास्त्रयः साधर्म्यदृष्टान्ताभासाः अनन्वयो विपरीतान्वय इति द्वौ वचनदोषकृतौ ... वैधर्म्यदृष्टान्ताभासा अपि पञ्चैव, साध्याव्यावृत्तः साधनाव्यावृत्त उभयाव्यावृत्त इति वस्तुदोषास्त्रयः अव्यतिरेको विपरीतव्यतिरेक इति वचनदोषौ द्वौ।

उन्हों ने जोडे हैं तथा अनन्वय आदि प्रकारों को अयोग्य बताया है[1]। संदिग्धसाध्य आदि प्रकारों का उल्लेख भासर्वज्ञ ने भी किया है तथा उन में संदिग्धाश्रय को जोड कर (अन्वयदृष्टान्त के चार तथा व्यतिरेकदृष्टान्त के चार इस प्रकार) आठ प्रकारों की मान्यता का उल्लेख किया है[2]। देवसूरि ने इन दोनों प्रकारों को जोड कर अठारह दृष्टान्ताभास बतलाये हैं — साध्यविकल आदि तीन, संदिग्धसाध्य आदि तीन, तथा अनन्वय, विपरीतान्वय व अप्रदर्शितान्वय ये अन्वय दृष्टान्त के आभास हैं। इसी प्रकार व्यतिरेक दृष्टान्त के भी नौ आभास हैं[3]। माणिक्यनन्दि सिर्फ आठ दृष्टान्ताभास मानते हैं— साध्यविकल आदि तीन तथा विपरीतान्वय, एवं साध्याव्यावृत्त आदि तीन एवं विपरीतव्यतिरेक[4]।

तर्क (परि० ४३–४४)

इस विषय का संक्षिप्त उल्लेख ऊपर परि. १९ के टिप्पण में किया है। आत्माश्रय इत्यादि तर्क के प्रकार तथा उन के दोषों का संक्षिप्त उल्लेख आचार्य ने विश्वतत्त्वप्रकाश (परि. ३९) में भी किया है। अन्यत्र इस विषय का वर्णन देखने में नही आया।

छल (परि० ४५–४८)

यह वर्णन प्रायः शब्दशः न्यायसूत्र तथा उस की टीका-परम्परा पर आधारित है[5]।

---

१. न्यायावतारटीका पृ. ५६-६७.

२. न्यायसार पृ. १८-१९। अन्ये तु सन्देहद्वारेण अपरान् अष्टौ उदाहरणाभासान् वर्णयन्ति। इत्यादि.

३. प्रमाणनयतत्त्वालोक अ. ६ सू. ५८-७९.

४. परीक्षामुख अ. ६ सू. ४०-४५.

५. न्यायसूत्र अ. १, आ. २ सू. १०-१४। वचनविघातः अर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्। इत्यादि।

जातियां (परि० ४८–६९)

यहां जातियों का समुचित लक्षण नैयायिक परम्परा के अनुसार है[1]। जातियों के चौबीस प्रकारों के नाम तथा लक्षण न्यायसूत्र में मिलते हैं। उस में साध्यसम के स्थान पर आचार्य ने असिद्धादिसम का वर्णन किया है।

अकलंकदेव ने जातियों का सामान्य लक्षण ही बताया है – भेदों का वर्णन नहीं किया क्यों कि ये भेद अनन्त हो सकते हैं तथा शास्त्र में उन का विस्तार से वर्णन हो चुका है[2]। यहां शास्त्र शब्द से उन का अभिप्राय न्यायसूत्र से हो सकता है। जातियों की संख्या का नियम नहीं है यह बात नैयायिक विद्वानों ने भी मानी है[3]। न्यायसार में सोलह जातियों का ही वर्णन है[4] किन्तु न्यायसूत्र में वर्णित जातियों के अतिरिक्त अनन्यसमा आदि जातियां हो सकती हैं इस की सूचना भी वहां मिलती है[5]।

भावसेन ने जातियों की संख्या बीस मानी है। वे अर्थापत्तिसम तथा उपपत्तिसम को प्रकरणसम से अभिन्न मानते हैं। जयन्त ने प्रकरणसम तथा उपपत्तिसम को साधर्म्यसम से अभिन्न मानने के मत का उल्लेख कर उस का खण्डन किया है, उन का कथन है कि साधर्म्यसम में प्रतिपक्ष का

---

१. न्यायसूत्र १-२-१८। साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः। न्यायसार पृ. ४६ प्रयुक्ते हेतौ समीकरणाभिप्रायेण प्रसंगो जातिः।

२. न्यायविनिश्चय श्लो. ३७६ मिथ्योत्तराणामानन्त्यात् शास्त्रे वा विस्तरोक्तितः। साधर्म्यादिसमत्वेन जातिर्नेह प्रतन्यते॥ विद्यानन्द तथा प्रभाचन्द्र ने इसी दृष्टिकोण को मान्य किया है किन्तु वे पूर्ववर्णित जातियों का वर्णन भी करते हैं (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. २९८-३१० प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ. १९६-२००)।

३. न्यायमंजरी भा. २ पृ. १७६। तत्राप्यानन्त्ये जातीनामसंकीर्णोदाहरण-विवक्षया चतुर्विंशतिप्रकारत्वमुपवर्णितम् न तु तत्संख्यानियमः कृत इति।

४. न्यायसार पृ. ४७-५५ इस में प्रसंगसम, प्रतिदृष्टान्तसम, संशयसम, प्रकरणसम, अर्थापत्तिसम, अनित्यसम तथा कार्यसम का वर्णन नहीं है।

५. न्यायसार पृ. ५५-५६। एतेनान्यत्वस्य आत्मनोऽनन्यत्वात् अन्यत्वं नास्तीत्यसदुत्तराणि (टीका–इयमनन्यसमा जातिः) प्रत्युक्तानि।... आनन्त्यात् न सर्वाणि जात्युत्तराणि उदाहर्तुं शक्यन्ते सूत्राणामपि उदाहरणार्थत्वात्।

-खण्डन मुख्य अभिप्राय होता है, प्रकरणसम में दूसरा पक्ष उपस्थित करने का अभिप्राय होता है तथा उपपत्तिसम में निर्णय का अभाव बतलाने का अभिप्राय होता है[1]। अविशेषसम तथा अनित्यसम को अभिन्न मानने का भी जयन्त ने खण्डन किया है[2]। उन का कथन है कि अविशेषसम में अस्तित्व के कारण सब पदार्थों में समानता बतलाई गई है तथा अनित्यसम में घट की समानता से सब पदार्थों में अनित्यत्व की समानता कल्पित की गई है, इस प्रकार इन दोनों में वर्णन के प्रकार का भेद है।

निग्रहस्थान (परि० ७०-८४)

वाद में पराजय होने के कारणों का – बाईस निग्रहस्थानों का – जो वर्णन भावसेन ने किया है वह प्रायः शब्दशः न्यायसूत्र तथा उस की टीकाओं पर आधारित है[3]।

बौद्ध आचार्यों ने निग्रहस्थान के दो ही प्रकार माने हैं – ऐसा वाक्य-प्रयोग करना जो अपने पक्ष को सिद्ध न कर सके तथा ऐसी बातें उठाना जिन से प्रतिपक्ष दूषित सिद्ध न हो[4]। अनुमान के अवयवों के बारे में उन के विचार न्यायदर्शन की परम्परा से भिन्न हैं अतः वे न्यून, अधिक आदि निग्रहस्थानों को अनावश्यक मानते हैं। निग्रहस्थानों को दो प्रकारों में संगृहीत करने का संकेत न्यायसूत्र में भी मिलता है[5]।

---

१. न्यायमंजरी भा. २ पृ. १८३। ननु सैवेयं साधर्म्यादिसमा प्रकरणसमा वा जातिर्न भेदान्तरम्? मैवम। उद्भावनप्रकारेण भेदात्। परपक्षोपमर्दबुद्ध्या साधर्म्यादिसमा जातिः प्रयुज्यते, पक्षान्तरोत्थापनास्थया प्रकरणसमा, अप्रतिपत्ति-पर्यवसायित्वाशयेन इयमुपपत्तिसमा इति।

२. उपर्युक्त पृ. १८५। अविशेषसमा एव इयं जातिरितिचेत् तत्र हि सत्तायोगात् सर्वभावानामविशेष आपादितः इह तु घटसाधर्म्यादेव अनित्यत्वमापा-दितम् इति उद्भावनाभङ्गिभेदाच्च जातिनानात्वमिति असकृदुक्तम्।

३. न्यायसूत्र अ. ५ आ. २.

४. वादन्याय पृ. २। असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः।
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते॥

५. न्यायसूत्र १-२-१९। विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्।

इस संबन्ध में जैन आचार्यों का दृष्टिकोण यह है कि वाद में जिस पक्ष को उचित सिद्ध किया जा सके वह विजयी होता है तथा जिस पक्ष का खण्डन किया जाता है वह पराजित होता है। अतः पक्ष को सिद्ध करना यह विजय का स्वरूप है। वादी यदि अपने पक्ष को सिद्ध नही कर सकता तो केवल प्रतिवादी की गलती के कारण प्रतिवादी को पराजित और वादी को विजयी नही मानना चाहिए। इसी प्रकार वादी यदि अपना पक्ष सिद्ध कर सकता है तो वाक्य रचना की गलती जैसे कारण से उसे पराजित नही मानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि वाद में तत्त्वनिर्णय की मुख्यता होनी चाहिए – व्यक्ति के विजय या पराजय की मुख्यता नही होनी चाहिए। इस विषय का वर्णन अकलंकदेव ने[1] संक्षेप से किया है। विद्यानन्द ने दृष्टिकोण यही रखा है किन्तु निग्रहस्थानों के पूर्ववर्णित प्रकारों की विस्तृत चर्चा की है[2], प्रभाचन्द्र ने इन दोनों आचार्यों के कथनों का तात्पर्य संगृहीत किया है[3]।

वाचस्पति के कथनानुसार समस्त जातियां भी पराजय का कारण होती हैं–उन का समावेश निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान में करना चाहिए[4]।

वाद के प्रकार (परि० ८६–८९ तथा ९५–९८)

यहां आचार्य ने वाद के तीन प्रकार किये हैं – व्याख्या, गोष्ठी तथा विवाद। तथा चार प्रकारों में विवाद का वर्गीकरण किया है – तात्त्विक, प्रातिभ, नियतार्थ तथा परार्थन। इन में से केवल तात्त्विक और प्रातिभ इन दो प्रकारों का उल्लेख श्रीदत्त आचार्य के जल्पनिर्णय में था ऐसा विद्यानन्द

---

१. न्यायविनिश्चय का. ३७८–७९। असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः। न युक्तं निग्रहस्थानमर्थापरिसमाप्तितः॥ वादी पराजितोऽयुक्तो वस्तुतत्त्वे व्यवस्थितः। तत्र दोषं ब्रुवाणो वा विपर्यस्तः कथं जयेत्॥ इस का विस्तार सिद्धिविनिश्चय प्र. ५ की टीका में प्राप्त होता है।

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. २८३–२९४ यहां विद्यानन्द ने पूर्वोक्त बाईस निग्रहस्थानों के साथ छल और जाति की भी गणना की है।

३. प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ. २००-२०४.

४. न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका पृ. ७२२.

का कथन है[1]। व्याख्या और गोष्ठी में जय-पराजय का उद्देश नहीं होता, प्रतिवाद में वही मुख्य उद्देश होता है। इस भेद को न्यायदर्शन की परम्परा में वाद (तत्त्वनिर्णय के लिए) तथा जल्प (जय-पराजय के लिए) इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया है। किन्तु जल्प में छल, जाति आदि के प्रयोग की उन्हों ने छूट दी है। अत: जैन आचार्यों ने इस भेद को अस्वीकार कर के जल्प और वाद को एकार्थक शब्द माना है। इस की विस्तृत चर्चा भावसेन ने आगे की है (परि. १०३–१२२)।

परि. ८९ के पहले श्लोक का रूपान्तर पंचतंत्र (तं. १ श्लो. ३०) में मिलता है। वहां इस का रूप यह है – ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम्। तयोरेव विवाहः स्यान्न तु पुष्टविपुष्टयोः॥ यही रूप इस ग्रंथ के तं. १ श्लो. २०४ में भी मिलता है।

वाद के चार अंग (परि० ९०–९४)

इस विषय का संक्षिप्त वर्णन सिद्धिविनिश्चय प्र. ५, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. २७७–२८०, प्रमाणनयतत्त्वालोक अ. ८ आदि में मिलता है। इन चार अंगों में सभापति के लिए परिषद्बल तथा सभ्य के लिए प्राश्निक इन शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। कुमारनन्दि आचार्य के वादन्याय ग्रन्थ में इस का विस्तृत वर्णन था ऐसा विद्यानन्द के कथन से प्रतीत होता है।

परि. ९२ के अपूज्या यत्र इत्यादि श्लोक का रूपान्तर पंचतन्त्र (तं. ३ श्लो. २०१) में मिलता है। वहां इस की दूसरी पंक्ति इस प्रकार है – त्रीणि तत्र प्रवर्तन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम्।

पत्रविचार (परि० ९९–१०२)

इस विषय का वर्णन विद्यानन्दकृत पत्रपरीक्षा पर आधारित है। इस ग्रन्थ से आचार्य ने तीन श्लोक उद्धृत किये हैं। विद्यानन्द ने भी किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थ से कई श्लोक उद्धृत किये हैं किन्तु वह ग्रन्थ उपलब्ध नही है। प्रभाचन्द्र ने संक्षेप से इस विषय का वर्णन किया है (प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ. २०७–२१०)

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. २८०। द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्वप्रातिभगोचरम्। त्रिषष्टेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये॥

तीन या चार कथाएं (परि० १०३–१०५)

दार्शनिक चर्चा के लिए यहां कथा शब्द का प्रयोग किया है। न्यायसूत्र में इस के तीन प्रकार किये हैं – वाद, जल्प तथा वितण्डा[१]। यहां इन के जो लक्षण दिये हैं उन का आचार्य ने शब्दशः खण्डन किया है। न्यायसार में वितण्डा के दो प्रकार किये हैं – वाद की वितण्डा तथा जल्प की वितण्डा (प्रतिवादी के पक्ष का खण्डन ही जिस में हो – स्वपक्ष का स्थापन न हो उस वाद को वादवितण्डा कहेंगे तथा ऐसे ही जल्प को जल्प-वितण्डा कहेंगे)। वाद-वितण्डा के अस्तित्व का समर्थन करने के लिए वहां न्यायसूत्र का एक वाक्य भी उद्धृत किया है[२]। इस प्रकार कथा के चार प्रकार होते हैं।

वाद और जल्प में अभिन्नता (परि० १०६–१२२)

न्यायसूत्र तथा भाष्य में वाद और जल्प का जो वर्णन है उस से प्रतीत होता है कि इन दोनों में छल आदि के प्रयोग का ही भेद है, वाद में छल आदि प्रयुक्त नहीं होते किन्तु जल्प में होते हैं। जैन आचार्यों ने नैतिकता की दृष्टि से छल आदि के प्रयोग का निषेध किया है और इस भेद के अभाव में वाद और जल्प को समानार्थक माना है[३]। छल आदि को अनुचित मानते हुए भी नैयायिक विद्वान जल्प में उन के प्रयोग की छूट देते हैं क्यों कि जल्प में विजय प्राप्त होने पर जो सामाजिक लाभ होता है

---

१. न्यायसूत्र १-२-१, २, ३। प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः। यथोक्तोपपन्नः छलजातिनिग्रहस्थान-साधनोपालम्भो जल्पः। स एव प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा।

२. न्यायसार पृ. ४२-४४ टीका–एवं च वीतरागवितण्डा विजिगीषु-वितण्डा इति द्विविधा वितण्डा, एतच्च तं प्रतिपक्षहीनमपि वा कुर्यात् (न्यायसूत्र ४-२-४९) इति सूत्रेणापि सूचितम्।

३. सिद्धिविनिश्चयटीका पृ. ३११-१३। समर्थवचनं जल्पं चतुरङ्गं विदुर्बुधाः इत्यादि; प्रमाणसंग्रह पृ. १११ समर्थवचनं वादः इत्यादि; तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. २७८.

उस की उन्हें अधिक चिन्ता है[1]। इस बात को ले कर बाद के नैयायिक विद्वानों ने वाद के लिए वीतरागकथा तथा जल्प के लिए विजिगीषुकथा इन शब्दों का प्रयोग किया है[2]। इस प्रकार जहां सूत्रकार और भाष्यकार वाद और जल्प में केवल साधन का भेद बतलाते हैं वहां उत्तरवर्ती लेखक उन में उद्देश का भेद भी मानते हैं – वाद तत्त्वनिर्णय के लिए किया जाता है, तथा जल्प स्वपक्ष के विजय के लिए किया जाता है। भावसेन ने वाद और जल्प में उद्देश भेद तथा साधनभेद की इन दोनों बातों को एकत्रित कर के उन की आलोचना की है अतः वे इन दोनों में भेद स्वीकार नहीं करते। किन्तु वाद में तत्त्वनिर्णय तथा स्वपक्षविजय ये पृथक् उद्देश होते हैं यह उन्हें मान्य है, तदनुसार उन्होंने व्याख्यावाद, गोष्ठीवाद तथा विवाद का पृथक् वर्णन पहले किया भी है (परि. ८७–८९)[3]।

वाद और जल्प को अभिन्न मानने की जैन आचार्यों की परम्परा में उल्लेखनीय अपवाद जिनेश्वरसूरि का है। इन दोनों में उद्देश भेद और साधन-भेद को स्वीकार करते हुए उन्हों ने इन मे बाह्य भेद को स्पष्ट किया है –

१. न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका पृ. ६६८। यस्तु स्वदर्शनविलसितमिथ्याज्ञानावलेपदुर्विदग्धतया सद्विद्यावैराग्याद् वा लाभपूजाख्यात्यर्थितया कुहेतुभिरीश्वराणां जनाधाराणां पुरतो वेदब्राह्मणपरलोकादिदूषणप्रवृत्तः तं प्रतिवादी समीचीनदूषणम् अप्रतिभया अपश्यन् जल्पवितण्डे अवतार्य विगृह्य जल्पवितण्डाभ्यां तत्त्वकथनं करोति विद्यापरिपालनाय मा भूदीश्वराणां मतिविभ्रमेण तच्चरितमनुवर्तिनीनां प्रजानां धर्मविप्लव इति।

२. न्यायसार पृ. ४१-४२। वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः कथा सा द्विविधा वीतरागकथा विजिगीषु कथा चेति। न्यायमंजरी भा. २ पृ. १५१। वादं च निर्णयफलार्थिभिरेव शिष्यसब्रह्मचारिगुरुभिः सह वीतरागैः। न ख्यातिलाभरभसप्रतिवर्धमानस्पर्धानुबन्धविधुरात्मभिरारभेत ॥

३. इसी प्रकार देवसूरि ने वाद के दो उद्देश मानते हुए भी पृथक् प्रकारों के रूप में उनका वर्णन नहीं किया है। (प्रमाणनयतत्त्वालोक अ. ८ सू. २ प्रारम्भकश्चात्र जिगीषुः तत्त्वनिर्णिनीषुश्च।)

वाद में सभापति, सभासद आदि नही होते जब कि जल्प के इन की व्यवस्था होती है[1] ।

ग्रन्थों में वाद और जल्प की परिभाषाओं के बारे में यह मतभेद है, किन्तु व्यवहार में संभवतः वाद यह एक ही संज्ञा रूढ थी – सांख्य और बौद्धों में वाद हुआ, वाद में विजयी हुए इस प्रकार के वर्णन तो मिलते हैं किन्तु उन में जल्प हुआ ऐसा वर्णन नही मिलता। वाद में भाग लेनेवाले वादी और प्रतिवादी कहलाते थे, किन्तु जल्पी या प्रतिजल्पी ये शब्द प्रयोग में नही आते थे। इस से यह सूचित होता है कि व्यवहार में जल्प शब्द का प्रयोग बहुत कम होता था।

आचार्य ने इस विषय की लम्बी चर्चा की है जो कुछ हद तक शब्द-बहुल कही जा सकती है। वाद के लक्षण में पंचावयवोपपन्न इस विशेषण की उन की आलोचना (प्रतिज्ञा आदि वाक्य शब्द हैं अतः वे अवयव नही हो सकते, अवयव तो भौतिक होते हैं) को गम्भीर मानना कठिन है (परि. ११२)। यह आक्षेप उन के पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थ से लिया गया है क्यों कि वाचस्पति ने इस का उल्लेख किया है[2]। दूसरे प्रकार से पांच अवयवों की जो गणना भावसेन ने उद्धृत की है (परि. ११४) वह न्यायसारटीका में प्राप्त होती है[3] ।

---

१. प्रमालक्ष्म श्लो. ५९ । समानलिङ्गिनां क्वापि मुमुक्षूणामविद्विषाम् । सन्देहापोहकृद्वादो जल्पस्त्वन्यत्र संमतः ।। श्लो. ६२ अत एवात्र नो युक्ताः सभ्या दण्डधरादयः । छलजात्यादयो दूरं निग्रहोऽपि न कश्चन ।। श्लो. ६३ वाद एव भवेज्जल्पः छलजात्यादयः परम् । अनुषज्यन्ते यथायोगं सभ्यदण्डधरादयः ।।

२. न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका पृ. ५४ ननु यथा तन्तवः पटस्य समवायिकारणं किं तथैवैते प्रतिज्ञादयो वाक्यस्य । नो खलु आकाशगुणा वर्णाः समवायिकारणतां प्रतिपद्यन्त इत्यत आह । वाक्यैकदेशा इति अवयवा इति, अवयवाः न पुनः समवायिकारणम् ।

३. पृष्ठ ४२ तथा स्वपक्षसाधनं परपक्षदूषणं साधनसमर्थनं दूषणसमर्थनं शब्ददोषवर्जनमित्येतैः पंचभिरवयवैरुपपन्नः कार्यो येनाभिमतसिद्धिः स्यात् ।

आगम (सूरि० १२३)

यहाँ आचार्य ने आगम के प्रणेता आप्त का जो लक्षण बतलाया है वह सर्वज्ञ और असर्वज्ञ दोनों में संभव है। यह बात परम्परा-संमत भी है। सिद्धसेन ने शब्द प्रमाण का वर्णन करते हुए दो श्लोक लिख कर इस प्रमाण में असर्वज्ञ के वाक्य और सर्वज्ञ के वाक्य दोनों का अन्तर्भाव सूचित किया है[1]। वात्स्यायन ने आप्त शब्द के अर्थ में ऋषि, आर्य, म्लेच्छ तीनों का अन्तर्भाव किया है[2]। देवसूरि ने आप्त के दो प्रकार बतलाये हैं– लौकिक तथा लोकोत्तर[3]। पिता इत्यादि लौकिक आप्त हैं तथा तीर्थंकर लोकोत्तर आप्त हैं।

ऐसा होने पर भी आगम प्रमाण के वर्णन में सर्वज्ञप्रणीत आगम की मुख्यता रहती है। इस के लिए प्रयुक्त दूसरा शब्द श्रुत है। यह शब्द भी दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। सर्वसाधारण व्यक्तियों का मतिज्ञान पर आधारित ज्ञान श्रुत कहलाता है[4]। तथा सर्वज्ञों के केवलज्ञान पर आधारित उपदेश को भी श्रुत कहते हैं। उमास्वाति ने श्रुतज्ञान के वर्णन में इन दोनों प्रकारों को एकत्रित किया है – वे श्रुत को मतिपूर्व कहते हैं किन्तु उस के भेदों के वर्णन में सर्वज्ञप्रणीत ज्ञान के प्रतिपादक ग्रन्थों की गणना करते हैं[5]।

यहाँ आचार्य ने आगम ग्रन्थों की नामावली में बारह अंगग्रन्थों के अतिरिक्त अंगबाह्य ग्रन्थों के नाम भी गिनाये हैं। इन में से अधिकांश ग्रन्थों के संस्करण श्वेताम्बर परम्परा में प्रसिद्ध हैं। दिगम्बर परम्परा में इन के अध्ययन की परम्परा टूट गई है।

---

१. न्यायावतार टीका पृ. ४२। शाब्दं च द्विधा भवति लौकिकं शास्त्रजं चेति तत्रेदं द्वयोरपि साधारणं लक्षणं प्रतिपादितम् (श्लोक. ८).

२. न्यायभाष्य १-१-७। साक्षात्करणमर्थस्य आप्तिः तया प्रवर्तत इत्याप्तः। ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्।

३. प्रमाणनयतत्त्वालोक अ. ४ सू. ६-७। स च द्वेधा लौकिको लोकोत्तरश्च। लौकिको जनकादिः लोकोत्तरस्तु तीर्थकरादिः।

४. नन्दीसूत्र (सू. ४०)। मइपुव्वं जेण सुयं, न मई सुयपुव्विया।

५. तत्त्वार्थसूत्र १-२०। श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्।

अंगबाह्य ग्रन्थों का वर्गीकरण नन्दीसूत्र (सू. ४३) में इस प्रकार मिलता है – अंगबाह्य के दो भाग हैं – आवश्यक तथा आवश्यकव्यतिरिक्त। आवश्यक के छह भाग हैं –सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान। आवश्यकव्यतिरिक्त के दो भाग हैं – कालिक और उत्कालिक। उत्कालिक के बहुतसे भाग हैं – दशवैकालिक, कल्पाकल्प, चुल्लकल्प, महाकल्प, औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, नन्दी, अनुयोगद्वार इत्यादि। कालिक के भी बहुतसे भाग हैं – उत्तराध्ययन, व्यवहार, निशीथ, ऋषिभाषित, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, निरयावली, इत्यादि। उपर्युक्त ग्रन्थों में से अधिकांश इस समय श्वेताम्बर परम्परा में प्रसिद्ध हैं।

द्रव्यप्रमाण (परि० १२५)

यहां द्रव्यप्रमाण के छह प्रकार बतलाये हैं। इस विषय का विस्तृत वर्णन अनुयोगद्वार सूत्र (सूत्र १३२) में प्राप्त होता है[१]। वहां दी हुई कुछ तालिकाएं इस प्रकार हैं – धान्यमान की तालिका:–२ असई = १ पसई; २ पसई = १ सेइया; ४ सेइया = १ कुलक; ४ कुलक = १ प्रस्थ; ४ प्रस्थ = १ आढक; ४ आढक = १ द्रोण; ६० आढक = १ जघन्यकुंभ; ८० आढक = १ मध्यम कुंभ; १०० आढक = १ उत्तम कुंभ; ८०० आढक = १ वाह। रस (तरल पदार्थ) मान की तालिका:–१ मानी=२५६ पल = २ अर्धमानी; १ अर्धमानी = २ चतुर्भागिका; १ चतुर्भागिका = २ अष्टभागिका; १ अष्टभागिका = २ षोडशिका।

उन्मान (तौलने के बाटों) की तालिका:—

२ अर्धकर्ष = १ कर्ष; २ कर्ष = १ अर्धपल; २ अर्धपल = १ पल; ५०० पल = १ तुला; १० तुला = १ अर्धभार; २० तुला = १ भार।

प्रतिमान (छोटे बाटों) की तालिका:—

---

१. विभागनिप्फण्णे (दव्वपमाणे) पंचविहे पण्णत्ते, तं जहां, माणे, उम्माणे, अवमाणे, गणिमे, पडिमाणे। इत्यादि.

५ गुंजा = ४ काकिणी = २ निष्पाव = १ कर्ममाष; १२ कर्ममाष = १ मंडल; १६ कर्ममाष = १ सुवर्ण।

गणिमप्रमाण की तालिका:—एक, दस, सौ, हजार, दसहजार, सौ हजार, दस सौ हजार, कोटि।

अवमान के उदाहरण:—हाथ, दण्ड, धनुष, युग, नालिका, अक्ष, मूसल।

क्षेत्रप्रमाण तथा कालप्रमाण (परि० १२६–१२७)

क्षेत्रप्रमाण का यहां जो वर्णन दिया है वह कुछ विस्तार से अनुयोगद्वारसूत्र (सू. १३३) में पाया जाता है। वह तालिका इस प्रकार है – ८ ऊर्ध्वरेणु = १ त्रसरेणु, ८ त्रसरेणु = १ रथरेणु, ८ रथरेणु = १ उत्तमभोगभूमिजकेश, ८ उत्तमभोगभूमिजकेश = १ मध्यमभोगभूमिजकेश, ८ मध्यमभोगभूमिजकेश = १ जघन्यभोगभूमिजकेश, ८ जघन्यभोगभूमिजकेश = १ विदेहक्षेत्रजकेश, ८ विदेहक्षेत्रजकेश = १ भरत ऐरावत क्षेत्रजकेश, ८ भरत-ऐरावत क्षेत्रजकेश = १ लिक्षा; ८ लिक्षा = १ यूका, ८ यूका = १ यव, ८ यव = १ अंगुल, ६ अंगुल = १ पाद, २ पाद = १ वितस्ति, २ वितस्ति = १ रत्नि, २ रत्नि = १ कुक्षि, २ कुक्षि = १ दण्ड (अथवा धनुष, युग, नालिका, मुसल या अक्ष), २००० दण्ड = १ गव्यूति, ४ गव्यूति = १ योजन।

गणितसारसंग्रह (अ. १, श्लो. २५–३१) में प्रायः यही तालिका है, अन्तर यह है कि उर्ध्वरेणु के लिए अणु, यूका के लिए तिल या सर्षप, रत्नि के लिए हस्त तथा गव्यूति के लिए क्रोश शब्द का प्रयोग किया है। वहां विदेहक्षेत्रज केशमाप का उल्लेख नहीं है तथा कुक्षि का उल्लेख भी नहीं है।

तिलोयपण्णत्ती (अ. १, गा. ९३–१३२) में भी यह तालिका प्राप्त होती है।

कालप्रमाण का वर्णन अनुयोगद्वारसूत्र (सू. १३४) में विस्तार से मिलता है। वहां की तालिका इस प्रकार है – असंख्यात समय = १ आवलि, संख्यात आवलि = १ उच्छ्वास, (इसी को निश्वास या प्राण कहते हैं),

७ प्राण = १ स्तोक, ७ स्तोक = १ लव, ७७ लव = १ मुहूर्त, ३० मुहूर्त = १ अहोरात्र, १५ अहोरात्र = १ पक्ष, २ पक्ष = १ मास, २ मास = १ ऋतु, ३ ऋतु = १ अयन, २ अयन = १ संवत्सर, ५ संवत्सर = १ युग, २० युग = १ वर्षशत, १० वर्षशत = १ वर्षसहस्र, १०० वर्षसहस्र = १ वर्षशतसहस्र, ८४ वर्षशतसहस्र = १ पूर्वांग (यहां से ऊपर प्रत्येक माप पूर्वमाप के ८४ लक्ष गुणित बतलाया है, जिन के नाम हैं – पूर्व, त्रुटितांग, त्रुटित, अटटांग, अटट, अववांग, अवव, हुहुअंग, हुहुअ, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अच्छनिउरंग, अच्छनिउर, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, नमितांग, नमित, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग, शीर्षप्रहेलिका)।

गणितसारसंग्रह (अ. १, श्लो. ३२–३५) में कालप्रमाण की गणना एक वर्ष की अवस्था तक बतलाई है। वह यहां आचार्य द्वारा दी गई तालिका से मिलती है।

तिलोयपण्णत्ती (अ. ४, गा. २८५–२८६) में भी कालगणना की रीति बतलाई है।

उपमान प्रमाण (परि० १२८)

अतिविस्तृत क्षेत्र और काल की गणना के लिए उपमाओं के द्वारा पल्योपम, सागरोपम आदि संज्ञाओं का प्रयोग करना जैन ग्रन्थों की विशेषता है। इन्हीं संज्ञाओं को वहां उपमान प्रमाण कहा है (न्यायदर्शन में वर्णित उपमान का इस से कोई संबन्ध नहीं है, उस उपमान का समावेश पूर्वोक्त प्रत्यभिज्ञान परोक्ष प्रमाण में होता है यह ऊपर बताया है)। इस विषय का वर्णन कई ग्रन्थों में मिलता है जिन में प्रमुख हैं–अनुयोगद्वारसूत्र (सू. १३८) तिलोयपण्णत्ति (प्रथम अधिकार, इस का विवेचन जंबूदीवपण्णत्तीसंग्रह की प्रस्तावना में उपलब्ध है) तथा गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) की हिन्दी भूमिका।

श्लोकसूची

Jīvarāja Jaina Granthamālā

General Editors :

Dr. A. N. Upadhye & Dr. H. L. Jain

1. *Tiloyapaṇṇatti* of Yativṛṣabha (Part I, chapters 1–4) : An Ancient Prākrit Text dealing with Jaina Cosmography, Dogmatics etc. Prākrit Text authentically edited for the first time with the Various Readings, Preface & Hindi Paraphrase of Pt. Balachandra by Drs. A. N. Upadhye & H. L. Jain. Published by Jaina Saṁskṛti Saṁrakṣaka Saṁgha, Sholapur (India). Crown 8vo. pp. 6–38–532. Sholapur 1943. Price Rs. 12·00. Second Edition, Sholapur 1956. Price Rs. 16·00.

1. *Tiloyapaṇṇatti* of Yativṛṣabha (Part II, Chapters 5–9): As above, with Introductions in English and Hindi, with an alphabetical index of Gāthās, with other indices (of Names of works mentioned, of Geographical Terms, of Proper Names, of Technical Terms, of Differences in Tradition of Karaṇasūtras and of Technical Terms compared) and Tables of Nāraka-jīva, Bhavana-vāsī Deva, Kulakaras, Bhāvana Indras, Six Kulaparvatas, Seven Kṣetras, Twentyfour Tirthakaras; Age of the Śalākāpuruṣas, Twelve Cakravartins, Nine Nārāyanas, Nine Pratiśatrus, Nine Baladevas, Eleven Rudras, Twentyeight Nakṣatras, Eleven Kalpātīta, Twelve Indras, Twelve Kalpas and Twenty Prarūpaṇās). Crown Octavo pp. 6–1 –108–5 9 to 1032, Sholapur 1951. Price Rs. 16 00.

2. *Yaśastilaka and Indian Culture*, or Somadeva's Yaśastilaka and Aspects of Jainism and Indian Thought and Culture in the Tenth Century, by Professor K. K. Handiqui, Vice-Chancellor, Gauhati University, Assam, with Four Appendices, Index of Geographical Names and General Index. Published by J. S. S. Sangha, Sholapur. Crown Octavo pp. 8–540. Sholapur 1949. Price Rs. 16·00.

3. *Pāṇḍavapurāṇam* of Śubhacandra : A Sanskrit Text dealing with the Pāṇḍava Tale. Authentically edited with Various Readings, Hindi Paraphrase, Introduction in Hindi etc. by Pt. Jinadas, Published by J. S. S. Sangha, Sholapur. Crown Octavo pp. 4–40–8–520. Sholapur 1954. Price Rs 12·00.

4. *Prākṛta-śabdānuśāsanam* of Trivikrama with his own commentary : Critically Edited with Various Readings, an Introduction and Seven Appendices (1. Trivikrama's Sūtras ; 2. Alphabetical index of the Sūtras ; 3. Metrical Version of

the Sūtrapāṭha; 4. Index of Apabhraṁśa Stanzas; 5. Index of Deśya words; 6. Index of Dhātvādeśas, Sanskrit to Prākrit and vice versa; 7. Bharata's Verses on Prākrit), by Dr. P. L. VAIDYA, Director, Mithilā Institute, Darbhanga. Published by the J. S. S. Sangha, Sholapur. Demy 8vo. pp. 44-178. Sholapur 1954. Price Rs. 10·00.

. *Siddhānta-sārasaṁgraha* of Narendrasena: A Sanskrit Text dealing with Seven Tattvas of Jainism. Authentically Edited for the first time with Various Readings and Hindi Translation by Pt. JINADAS P. PHADKULE. Published by the J. S. S. Sangha, Sholapur. Crown Octavo pp. about 300 Sholapur 1957. Price Rs. 10·00.

6. *Jainism in South India and Hyderabad Epigraphs*: A learned and well-documented Dissertation on the career of *Jainism in the South, especially in the areas in which* Kannada, Tamil and Telugu Languages are spoken, by P B. DESAI, M.A., Assistant Superintendent for Epigraphy, Ootacamund, Some Kannaḍa Inscriptions from the areas of the former Hyderabad State and round about are edited here for the first time both in Roman and Devanāgarī characters, along with their critical study in English and Sārānuvāda in Hindi. Equipped with a List of Inscriptions edited, a General Index and a number of Illustrations. Published by the J. S. S. Sangha, Sholapur 1 57. Crown Octavo pp. 16–456. Price Rs. 16·00.

7. *Jambūdīvapaṇṇatti-Saṁgaha* of Padmanandi: A Prākrit Text dealing with Jaina Geography. Authentically edited for the first time by Drs. A. N. UPADHYE and H. L. JAINA, with the Hindī Anuvāda of Pt. BALACHANDRA. The introduction institutes a careful study of the Text and its allied works. There is an Essay in Hindi on the Mathematics of the Tiloyapaṇṇatti by Prof. LAKSHMICHANDA JAIN, Jabalpur. Equipped with an Index of Gāthās, of Geographical Terms and of Technical Terms, and with additional Variants of Amera Ms. Published by the J S. S. Sangha, Sholapur. Crown Octavo pp. about 500. Sholapur 1957. Price Rs. 16.

8. *Bhaṭṭāraka-sampradāya*: A History of the Bhaṭṭāraka Pīṭhas especially of Western India, Gujarat, Rajasthan and

Madhya Pradesh, based on Epigraphical, Literary and Traditional sources, extensively reproduced and suitably interpreted, by Prof. V. JOHRAPURKAR, M.A. Nagpur. Published by the J. S. S. Sangha, Sholapur, Demy Octavo pp. 14-29-326, Sholapur 1960. Price Rs. 8/-.

9. *Prābhṛtādisaṁgraha :* This is a presentation of topic-wise discussions compiled from the works of Kundakunda, the *Samayasāra* being fully given. Edited with Introduction and Translation in Hindi by Pt. KAILASHCANDRA SHASTRI, Varanasi. Published by the J. S. S. Sangha, Sholapur. Demy 8vo. pp. 10-106—0-288. Sholapur 1960. Price Rs. 6·00.

10. *Pañcaviṁśati* of Padmanandi : (c. 1136 A.D). This is a collection of 26 Prakaraṇas (24 in Sanskrit and 2 in Prākrit) small and big, dealing with various religious topics: religious, speritual, ethical, didactic, hymnal and ritualistic. The text along with an anonymous commentary critically edited by Dr. A. N. UPADHYE and Dr. H. L. JAIN with the Hindi Anuvāda of Pt. BALACHANDRA SHASTRI. The edition is equipped with a detailed introduction shedding light on the various aspects of the work and personality of the author both in English, and Hindi. There are useful Indices. Printed in the N. S. Press, Bombay. Crown Octavo pp. 8 64-284. Sholapur 1962. Price Rs. 10/-.

11. *Ātmānuśāsana* of Guṇabhadra (middle of the 9th century A.D.). This is a religio-did actic anthology in elegant Sanskrit verses composed by Gunabhadra, the pupil of Jinasena, the teacher of Rāṣṭrakūṭa Amoghavarṣa The text is critically edited along with the Sanskrit commentary of Prabhācandra and a new Hindi Anuvāda by Dr. A. N. UPADHYE, Dr. H. L. JAIN and Pt. BALACHANDRA SHASTRI. The edition is equipped with introduction in English and Hindi and some useful Indices. Demy 8vo. pp. 8-112-260, Sholapur 1961. Price Rs. 5/-.

12. *Gaṇitasārasaṁgraha* of Mahāvīrācārya (c. 9th century A.D.) : This is an important treatise in Sanskrit on early Indian mathematics composed in an elegant style with a practical approach. Edited with Hindi Translation by Prof. L. C. JAIN, M.SC., Jabalpur. Crown Octavo pp. 16 + 34 + 282 + 86, Sholapur 1963. Price Rs. 12/-.

13. *Lokavibhāga* of Siṁhasūri : A Sanskrit digest of a missing ancient Prākrit text dealing with Jaina cosmography. Edited for the first time with Hindi Translation by Pt. BALACHANDRA SHASTRI. Crown Octavo pp. 8-52-256, Sholapur 1962. Price Rs. 10/-.

14. *Puṇyāsrava-kathākośa* of Rāmacandra : It is a collection of religious stories in simple and popular Sanskrit. The text authentically edited by Dr. A. N. UPADHYE and Dr. H. L. JAIN with the Hindi Anuvāda of Pt. BALACHANDRA SHASTRI. Crown Octavo pp. 48 + 68. Sholapur 1 64. Price Rs. 10/-.

15. *Jainism in Rajasthan* : This is a dissertation on Jainas and Jainism in Rajasthan and round about area from early times to the present day, based on epigraphical, literary and traditional sources by Dr. KAILASHCHANDRA JAIN, Ajmer. Crown Octavo pp. 8 + 284, Sholapur 1963. Price Rs. 11/-.

16. *Viśvatattva-Prakāśa* of Bhāvasena (13th century A.D.): It is a treatise on Nyāya. Fdited with Hindi Summary and Introduction in which is given an authentic Review of Jaina Nyāya literature by Dr. V. P. Johrapurkar, Nagpur. Demy Octavo pp 16 + 12 + 372, Sholapur 1964. Price Rs. 12/-.

17. *Tīrtha-vandana-saṁgraha* : A compilation and study of Extracts in Sanskrit, Prākrit and Modern Indian Languages from Ancient and Medieval Works of Forty Authors about (Digambara) Jaina Holy Places, by Dr. V. P. JOHRAPURKAR, Jaora. Demy Octavo pp. 208, Sholapur 1965. Price Rs. 5/-.

18. *Pramāprameya :* A treatise on Logical Topics by Bhāvasena Traividya. Authentically Edited with Hindi Translation, Noths etc. by Dr. V. P. JOHRAPURKAR, Mandla, Demi Octavo pp. 158. Sholapur 1966. Price Rs. 5/-.

WORKS IN PREPARATION

Subhāṣita-saṁdoha. Dharma-parīksā, Jñānārṇava, Dharmaratnākara, etc. For copies write to :

Jaina Saṁskṛti Saṁrakshaka Sangha,
SANTOSH BHAVAN, Phaltan Galli,
Sholapur (C. Rly.), India.